

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तर्गतः-सप्तमो

अन्तःकरणप्रबोधः

(समस्त पांच संस्कृत टीकाओ के हिंदी-अनुवाद, गुर्जरानुवाद, श्लोकार्थ, ग्रंथसार
एवम्

अरुणा

टीका सहित)



□ संपादक व लेखक □

गोस्वामी राजकुमार

□ प्रकाशक □

गोस्वामी राजकुमार नृत्यगोपालजी

“चरणाट” बंगला नं. ५, ठाकुर विलेज, ठाकुर डिग्री कॉलेज के सामने,
कांदिवली (पूर्व), मुंबई - ४०० १०१. ● दूरभाष : २८८४ ६५०६

वि. सं. २०६० ● वल्लभाब्द ५२६

प्रति : १०००

श्रीमद्-बल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तर्गतः-सप्तमो

अन्तःकरणप्रबोधः

अनुक्रमणिका

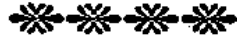
क्रमांक	प्रकरण	पृष्ठसंख्या
१.	अन्तःकरणप्रबोध (मूल पाठ).....	१
२.	श्लोकार्थ (हिंदी एवं गुजराती).....	३
३.	ग्रंथसार (गुजराती).....	५
४.	ग्रंथसार (हिंदी).....	८
५.	श्रीगोकुलनाथानां विवृतिः	११
६.	श्रीरघुनाथानां विवरणम्	३०
७.	श्रीहरिरायाणां विवृतिः	३७
८.	श्रीब्रजराजानां विवरणम्	५७
९.	श्रीपुरुषोत्तमानां विवरणम्	७२



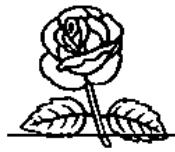
श्रीकृष्णः

श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचित

अन्तःकरणप्रबोधः ।



अन्तःकरण मद्वाक्यं सावधानतया शृणु ।
कृष्णात्परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ॥ १ ॥
चाण्डाली चेद्राजपत्नी जाता राज्ञा च मानिता ।
कदाचिदपमानेऽपि^१ मूलतः का क्षतिर्भवेत् ॥ २ ॥
समर्पणादहं पूर्वमुत्तमः किं सदा स्थितः ।
का ममाधमता भाव्या पश्चात्तापो यतो भवेत् ॥ ३ ॥
सत्यसङ्कल्पतो विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यति ।
आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहोऽन्यथा भवेत् ॥ ४ ॥
सेवकस्य तु धर्मोऽयं स्वामी स्वस्य करिष्यति ।
आज्ञा पूर्वं तु या जाता गङ्गासागरसङ्गमे ॥ ५ ॥
याऽपि पश्चान्मधुवने न कृतं तद्द्वयं मया ।
देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः ॥ ६ ॥
पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोऽहं न चान्यथा ।
लौकिकप्रभुवत्कृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन ॥ ७ ॥
सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोऽसि सुखी भव ।
प्रौढापि दुहिता यद्वत्स्नेहात् प्रेष्यते वरे ॥ ८ ॥
तथा देहे न कर्तव्यं वरस्तुष्यति नान्यथा ।
लोकवच्चेत्स्थितिर्मे स्यात्किं स्यादिति विचारय ॥ ९ ॥
अशक्ये हरिरेवास्ति मोहं मा गाः कथञ्चन ।
इति श्रीकृष्णादासस्य वल्लभस्य हितं वचः ॥ १० ॥
चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ ११ ॥
इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितोऽन्तःकरणप्रबोधःसम्पूर्णः ।



१ अपमाने वा इतिपाठः श्रीवजराजश्रीपुरुषोत्तमचरणानां टीकयोः ।

श्लोकार्थ



अन्तःकरण मद्वाक्यं सावधानतया शृणु ।

कृष्णात्परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ॥ १ ॥

हे अन्तःकरण ! मेरा वाक्यने सावधानीपूर्वक सांभलो के, वास्तवमें कृष्णसे श्रेष्ठ कोई भील दोषरहित देव नहीं.

हे अन्तःकरण ! मेरे वाक्य को सावधानीपूर्वक सुनो कि, वास्तव में कृष्ण से श्रेष्ठ कोई दूसरा दोषरहित देव नहीं है ।

चाण्डाली चेद्राजपत्नी जाता राज्ञा च मानिता ।

कदाचिदपमानेपि मूलतः का क्षतिर्भवेत् ॥ २ ॥

जे कोई चांडाली राजनी पत्नी बनी लय अने राज द्वारा सम्मानित थई लय अने पछी क्यारेक राज अने अपमान पण करी ले, तो भूणइपमां अनी शुं क्षति थवानी छे?

यदि कोई चाण्डाली राजा की पत्नी बन जाय और राजा द्वारा सम्मानित हो जाय और फिर कभी राजा उसका अपमान भी कर दे, तो मूलरूप से उसकी क्या क्षति होने वाली है ?

समर्पणादहं पूर्वमुत्तमः किं सदा स्थितः ।

का ममाधमता भाव्या पश्चात्तापो यतो भवेत् ॥ ३ ॥

समर्पणथी पूर्व शुं हुं सदा उत्तम हतो? हवे समर्पण पछी भारी कई अधमता थवानी छे, जेथी हुं पश्चात्ताप करुं?

समर्पण से पूर्व क्या मैं सदा उत्तम था ? अब समर्पण के पश्चात् मेरी कौन सी अधमता होने वाली है, जो मैं पश्चात्ताप करूँ ?

सत्यसङ्कल्पतो विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यति ।

आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहन्यथा भवेत् ॥ ४ ॥

भगवान-विष्णु सत्यसंकल्पी छे अथी (पोताना लुवोनो उद्धार करवाना पोताना संकल्पथी) विपरित नहीं करशे. सेवके तो आज्ञानुं पालन न करवुं नैछे, नहीं तो स्वामीलु द्रोह करवुं थई नशे.

भगवान-विष्णु सत्यसंकल्पी हैं अतः (अपने जीवों का उद्धार करने के अपने संकल्प से) विपरीत नहीं करेंगे । सेवक को तो आज्ञा का पालन ही करना चाहिए अन्यथा स्वामी से द्रोह करना हो जायेगा ।

सेवकस्य तु धर्मोऽयं स्वामी स्वस्य करिष्यति ।

सेवकनो धर्म तो स्वामीनी आज्ञानुं पालन करवुं न छे. स्वामी पोताना भक्तनुं हित करवानुं पोतानो धर्म निभावशे.

सेवक का धर्म तो स्वामी की आज्ञा का पालन करना ही है । स्वामी अपने भक्त का हित करने का अपना धर्म निभायेंगे ।

आज्ञा पूर्वं तु या जाता गङ्गासागरसङ्गमे ॥ ५ ॥

यापि पश्चान्मधुवने न कृतं तद्द्वयं मया ।

देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः ॥ ६ ॥

सर्वप्रथम अने गंगासागरसंगम पर देहत्यागनी आज्ञा थई, अना पछी मधुवनमां भील आज्ञा देशत्यागनी थई, आ अने आज्ञाओनुं पालन में न कर्युं. त्रील आज्ञा लोकप्रसिद्ध संन्यासग्रहण करवानी थई, जे आज्ञानुं पालन में कर्युं.

सर्वप्रथम मुझे गंगासागरसंगम पर देहत्याग की आज्ञा हुई, इसके पश्चात् मधुवन में दूसरी आज्ञा देशत्याग की हुई; इन दोनों आज्ञाओं का पालन मैंने नहीं किया । तीसरी आज्ञा लोकप्रसिद्ध संन्यासग्रहण करने की हुई, जिस आज्ञा का पालन मैंने किया ।

पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोऽहं न चान्यथा ।

जे में पहली जे आज्ञाओनुं पालन न कर्युं तो मारे पश्चात्ताप शा माटे करवो नैछे? केभके हुं तो भगवाननो सेवक छुं, कोई पारको नहीं.

यदि मैंने पहली दो आज्ञाओं का पालन नहीं किया तो मुझे पश्चात्ताप क्यों करना चाहिए ? क्योंकि मैं तो भगवान का सेवक हूँ, कोई पराया

श्लोकार्थ (गुजराती एवं हिन्दी)

नहीं ।

लौकिकप्रभुवत्कृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन ॥ ७ ॥

सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोऽसि सुखी भव ।

कोई लौकिक स्वामीनी दृष्टिधी कृष्णने नहीं जेवा जेईये, तमे भक्तिपूर्वक पोतानुं अधुं कांई प्रभुने समर्पित करी दीधुं छे अथी तमे कृतार्थ छे, सुखी रहो.

किसी लौकिकस्वामी की दृष्टि से कृष्ण को नहीं देखना चाहिए, तुमने भक्तिपूर्वक अपना सब कुछ प्रभु को समर्पित कर दिया है अतः तुम कृतार्थ हो, सुखी रहो ।

प्रौढापि दुहिता यद्वत्स्नेहान्न प्रेष्यते वरे ॥ ८ ॥

तथा देहे न कर्तव्यं वरस्तुष्यति नान्यथा ।

जेम पुत्रीनी उमर थई जेवा पर पण माता-पिता स्नेहवश अने अना पतिनी पासे न भोक्ले, तो पति प्रसन्न नहीं थाय तेवी जे रीते स्नेहवश थईने आ देहने प्रभुसेवाभां न जेडीये तो प्रभु प्रसन्न नहीं थाय.

जैसे पुत्री की आयु हो जाने पर भी माता-पिता स्नेहवश उसे उसके पति के पास न भेजें, तो पति प्रसन्न नहीं होगा, वैसे ही स्नेहवश होकर इस देह को प्रभुसेवा में न जाड़ें तो प्रभु प्रसन्न नहीं होंगे ।

लोकवच्चेत्स्थितिर्मे स्यात्किं स्यादिति विचारय ॥ ९ ॥

अशक्ये हरिरेवास्ति मोहं मा गाः कथञ्चन ।

जे मारी स्थिति संसारासक्त जेवोभां थई ज्ञात तो शुं थात ? आ विचार करो. समस्त अशक्य परिस्थितिओभां सर्वदुःखहर्ता भगवान (हरि) जे छे अथी चिंता नहीं करो.

यदि मेरी स्थिति संसारासक्त जीवों में हो जाती तो क्या होता ? यह विचार करो । समस्त अशक्य परिस्थितियों में सर्वदुःखहर्ता भगवान (हरि) ही हैं अतः चिंता मत करो ।

इति श्रीकृष्णदासस्य बल्लभस्य हितं वचः ॥ १० ॥

चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ ११ ॥

आ चिन्तना प्रति श्रीकृष्णदास-वल्लभना हितकारी वचन छे, जेने सांभणी भक्त चिन्तामुक्त थई ज्ञाय छे. यह चित्त के प्रति श्रीकृष्णदास-वल्लभ के हितकारी वचन हैं, जिन्हें सुनकर भक्त चिन्तामुक्त हो जाता है ।



श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।
श्रीवल्लभाचार्यचरणविरचित

अन्तःकरणप्रबोधः ।

श्रीगोकुलनाथचरणैर्विरचिता विवृतिः ।



दर्शयन् स्वस्य सौभाग्यं स्वीयानां भक्तिवर्त्म च ।
स्वमनोबोधवाक्यानि प्रकटीकृतवान् प्रभुः ॥ १ ॥
प्रणम्य पितृपादाब्जं चिन्तिताधिकदायकम् ।
स्वमनोबोधकाचार्यवचो व्याख्यातुमुद्यतः ॥ २ ॥
यद्यपीश्वरवाक्यानि दुर्बोधानि सदा स्वतः ।
तत्कृपैव तदीयस्य तदर्थावगमे गुरुः ॥ ३ ॥
भविष्यतीति निश्चित्य प्रवृत्तोहं न चान्यथा ।
अतः स्वाचार्यचरणौ शरणं मम सर्वदा ॥ ४ ॥

पोतानुं सौभाग्य दर्शावता अने स्वीयजनोने भक्तिमार्ग दर्शावता श्रीआचार्यचरणोमे
आ ग्रंथमां पोताना मनने बोध करवा वाणां वचनो क्ख्या छे ॥ १ ॥
विचार कर्यो होय तेनाथी पण अधिक आपवावाणा पितृचरणकमलोने प्रणाम करीने,
पोताना मनने बोध कराववावाणां आचार्यचरणानां वाक्योनी व्याख्या करवा हुं तत्पर थयो छुं ॥ २ ॥
जे के ईश्वरना वाक्यो समझवामां घणां अधरां होय छे पण तदीयो
माटे तेमनी कृपा ज तेमनो अर्थ समझववामां गुरु समान छे ।
आपुं नक्की करीने ज हुं आ कार्यमां तत्पर थयो छुं ;
ते सिवाय नहीं तेथी मारा आचार्यचरणो सर्वदा माझे शरण छे ॥ ३, ४ ॥
अपना सौभाग्य दर्शाते हुए एवं स्वीयजनो को भक्तिमार्ग दर्शाते हुए आचार्यचरणो ने
इस ग्रंथ में अपने मन को बोध कराने वाले वचन कहे हैं ॥१॥
विचार किए हुए से भी अधिक देनेवाले पितृचरणकमलो को प्रणाम करके
अपने मन को बोधकरानेवाले आचार्यचरणवाक्यों की व्याख्या करने मैं तत्पर हुआ हूँ ॥२॥
यद्यपि ईश्वर के वाक्य समझने में बड़े दुर्बोध होते हैं परंतु तदीयो के लिए
उनकी कृपा ही उनका अर्थ समझाने में गुरु के समान है।
यह निश्चित् करके ही मैं इस कार्य में तत्पर हुआ हूँ, अन्यथा नहीं ।
अतः मेरे आचार्यचरण सर्वदा मेरे शरण हों ॥३, ४॥

अथ भगवान् पूर्णपुरुषः पुरुषोत्तमः स्वस्वरूपं श्रीभागवतं द्वादशस्कन्धात्मकं प्रकटीकृत्य तदर्थप्राकट्ये
स्वातिरिक्तस्यायोग्यतां ज्ञात्वा स्ववागधिपतिरूपश्रीवल्लभाचार्यप्राकट्यं विधाय तदर्थप्राकट्ये आज्ञां च दत्वा तदर्थप्रकाशिकां
सुबोधिनीं कारितवान् । तत्र क्रमेण स्कन्धत्रयकरणे कालविलम्बादाचार्यविप्रयोगासहिष्णुः सन्
श्रीभागवततत्त्वार्थप्रतिपादकदशमस्कन्धविवरणार्थं विशेषाज्ञां दत्तवान् । तदाचार्यैः स्कन्धक्रमं विहाय दशमस्कन्धविवृतिरेव
कृता । तत्समाप्तौ स्वस्याचार्यमिलनविलम्बं ज्ञात्वा तद्विलम्बासहिष्णुः शीघ्रं स्वनिकटागमनार्थमाज्ञां दत्तवान् ।

ज्यारे पूर्णपुरुष-पुरुषोत्तम भगवाने पोताना श्रीभागवत द्वादश स्कन्धात्मक स्वज्ञपने प्रकट करीने ते श्रीमद्-भागवतनो

अर्थ प्रकट करवाने योग्यता आचार्यचरणो सिवाय भीष्म कोठनी न ज्ञानी, त्यारे पोतानी वाणीना अधिपतिइप श्रीवृद्धभाचार्यनुं प्राकट्य करीने तेमने श्रीमद्-भागवतना अर्थने प्रकाशित करवा माटे सुबोधिनीनी रचना करावी. ज्यारे श्रीआचार्यचरणो क्रमपूर्वक त्रीन् स्कंधनुं लेखनकार्य करी रह्या एता त्यारे काणविलंब ने कारणे भगवानने येमनो विप्रयोग सहन न थयो अने तेमणे श्रीआचार्यचरणोने श्रीभागवतना तत्त्वार्थना प्रतिपादक दशमस्कंधनुं विवरण करवाने विशेष आशा करी. त्यारे श्रीआचार्यचरणोने पाण स्कंधोना क्रम छोडीने दशमस्कंधनी विवृति करवानो आरंभ क्यो. ज्यारे दशमस्कंधनी विवृति समाप्त थई त्यारे भगवानने लाग्युं के तेमने श्रीआचार्यचरणोने भगवाभां विलंब थई रह्यो छे, तेथी तेमनाथी आ विलंब सहन न थयो अने तेओये श्रीआचार्यचरणो ने शीघ्र पोतानी पासे आवी ज्वानी आशा करी.

जब पूर्णपुरुष-पुरुषोत्तम-भगवान ने अपने श्रीभागवत-द्वादशस्कंधात्मक स्वरूप को प्रकट करके उस श्रीमद्-भागवत का अर्थ प्रकट करने की योग्यता उनके अतिरिक्त अन्य किसी की न जानी, तब अपनी वाणी के अधिपतिरूप श्रीवृद्धभाचार्य का प्राकट्य करके उन्हें श्रीमद्-भागवत का अर्थ प्रकट करने की आज्ञा दी और भागवत का अर्थ प्रकाशित करने के लिए सुबोधिनी की रचना करवाई। जब आचार्यचरण क्रमपूर्वक तीसरे स्कंध का लेखनकार्य कर रहे थे तब कालविलंब के कारण भगवान को उनका विप्रयोग सहन न हुआ और उन्होंने आचार्यचरणों को श्रीभागवत के तत्त्वार्थ के प्रतिपादक दशमस्कंध का विवरण करने की विशेष आज्ञा दी। तब आचार्यचरणों ने भी स्कंधों का क्रम छोड़कर दशमस्कंध की विवृति करनी आरंभ की। जब दशमस्कंध की विवृति समाप्त हुई तब भगवान को लगा कि उन्हें आचार्यचरणों से मिलने में विलंब हो रहा है अतः उनसे यह विलंब सहन न हुआ और उन्होंने आचार्यचरणों को शीघ्र उनके निकट आ जाने की आज्ञा की।

तदाचार्याः स्वसौभाग्यप्रौढिमवलम्ब्य स्वचिकीर्षितसंपूर्णश्रीभागवतविवरणस्याजातत्वात् स्वस्य धर्मिमार्गीयत्वात्तन्मार्गभावप्रौढ्या वारद्वयमाज्ञोल्लङ्घनं कृतवन्तस्तथापि भगवानाचार्यमिलनं स्वस्यात्यन्तावश्यकमिति श्रीभागवतविवरणार्थं दत्ताज्ञामप्यन्यथाकृत्वातिकृपारोषपूर्वकं पुनः स्वनिकटागमनार्थं तृतीयामाज्ञां दत्तवान् । तदाचार्या अत्यन्तं भगवदाग्रहं दृष्ट्वा पूर्वमाज्ञाद्वयोल्लङ्घनभावप्रौढिस्थानं स्वकीयमन्तःकरणमेवेति ज्ञापनाय तदेव बोधयन्ति । अन्तःकरण मद्वाक्यमिति

एवे श्रीआचार्यचरणोने ज्ञायुं के तेमणे जे श्रीमद्भागवतनुं संपूर्ण विवरण करवाने ईच्छा करी एती, ते पूर्ण थवानी नथी तेथी तेमणे पोताना सौभाग्य (स्वयं भगवान श्रीआचार्यचरणोने पोतानी पासे ओलावी रह्या छे, तेज आपश्रीनुं सौभाग्य छे.) ना भावातिरेकनो सहारो लईने, अने कारणके आपश्री धर्मिमार्गीय छे तेथी आ मार्गना भावावेशमां आवीने जे वार भगवद्-आज्ञानुं उल्लंघन करी दीधुं. परंतु भगवानने तो श्रीआचार्यचरणोने भगवुं अत्यंत आवश्यक एतुं तेथी तेओये पोताना द्वारा आपेली श्रीमद्-भागवतनुं विवरण करवाने आशा पाण डेरवीने कृपापूर्वक तेमना पर रोष करता इरीथी तेमने पोतानी पासे आववानी त्रीण आशा करी. त्यारे श्रीआचार्यचरणोने भगवाननो अत्यंत आग्रह जेईने, पहेली जे आशाओनुं उल्लंघन करवापाणुं तो तेमनुं पोतानुं अंतःकरणे न एतुं, ते जताववा माटे आगणना श्लोकमां पोताना अंतःकरणे न 'अंतःकरणे मद्वाक्यं' वगेरे शब्दोथी ओध आपी रह्या छे.

अब आचार्यचरणों ने जाना कि उन्होंने जिस श्रीमद्-भागवत का संपूर्ण विवरण करने की इच्छा की थी, वह पूर्ण होने वाला नहीं है अतः उन्होंने अपने सौभाग्य (स्वयं भगवान आचार्यचरणों को अपने निकट बुला रहे हैं, यही आपश्री का सौभाग्य है), के भावातिरेक का सहारा लेकर एवं आपश्री धर्मिमार्गीय भी हैं अतः इस मार्ग के भावावेश में आकर दो बार भगवद्-आज्ञा का उल्लंघन कर दिया। परंतु भगवान को तो आचार्यचरणों से मिलना अत्यंत आवश्यक था अतः उन्होंने अपने द्वारा दी गई श्रीमद्-भागवत का विवरण करने की आज्ञा भी फेर कर कृपापूर्वक उन पर रोष करते हुए पुनः उनके निकट आने की तीसरी आज्ञा दी। तब आचार्यचरणों ने भगवान का अत्यंत आग्रह देखकर, पूर्व में दो भगवद्-आज्ञाओं का उल्लंघन करनेवाला तो उनका अपना अन्तःकरण ही था - यह बताने के लिए वे आगे श्लोक में अपने अन्तःकरण को ही अन्तःकरण मद्वाक्य इत्यादि शब्दों से बोध करा रहे हैं।

अन्तःकरण मद्वाक्यं सावधानतया शृणु ।

कृष्णात्परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ॥ १ ॥

यद्यपि, अत्रार्थे सर्वेन्द्रियोपयोगात्सर्वेन्द्रियप्रबोध उचितस्तथापि तेषामन्तःकरणाधीनत्वाद्यथा राजनि निगृहीते सर्वमेव राज्यं निगृहीतं भवति । तथान्तःकरणे प्रबोधिते सर्वाण्येवेन्द्रियाणि प्रबोधितानि भवन्तीत्यन्तःकरणमेव प्रबोधयन्ति । मद्वाक्यं सावधानतया शृण्विति । यद्यपि मद्वाक्यं शृण्वित्येतावतैव प्रबोधसिद्धेर्यत् सावधानतयेत्युक्तं, तस्यायमाशयः । यथा स्वस्य धर्मिमार्गाभिमानप्रौढ्या व्रजसीमन्तिनीभिः फलप्रकरणे भगवदाज्ञोल्लङ्घनेन स्ववीर्यसम्पत्तिः साधिता, तथाहमपि सम्पूर्णश्रीभागवतविवृतिं

साधयिष्यामीत्याग्रहोऽस्मिन्नर्थे वैपरीत्यादनुचितः । वैपरीत्यं तु व्रजसीमन्तिनीभिः प्रियवाक्यानि फले प्रतिबन्धकानीतिभावप्रौढ्या निराकृतानि, प्रकृते तु भगवदाज्ञा +फलसाधिकेति तत्राग्रहो विपरीतफलकः, अनिष्टपर्यवसानादितिवाक्यश्रवणे सावधानतयेत्युक्तम् ।

जे के बोध व करवो छे तो समस्त इंद्रियोने व बोध करवो उचित छे, छातां पण अधीव इंद्रियो अंतःकरणे व आधीन छे तेथी श्रीआचार्यचरणो अंतःकरणे व बोध करी रह्या छे. जेम कोर राबने वशमां करी लेवामां आवे तो समस्त राज्य आपमेणे व वशमां थर नय छे, तेवी व रीते अंतःकरणे प्रबोधित करवाथी अधीव इंद्रियोनुं प्रबोधन आपमेणे व थर वशे, तेथी आपश्री अंतःकरणुं व प्रबोधन करी रह्या छे. हवे मद्राक्यं सावधानतया शृणु वगरे शब्दोनी व्याख्या करी रह्या छे. जेके श्रीआचार्यचरणो “माइ वाक्य सांभणो,” अटलुं व कही देत तो तेनाथी पण प्रबोधन तो थर व नत पण आपश्री वे, “माइ वाक्य सावधानीपूर्वक सांभणो” जेम कही रह्या छे तेनुं कारण जे छे के - जेम पोताना धर्मिभार्गना भावातिरेकने कारणे इलप्रकरणमां गोपिकाओजे भगवद्-आज्ञानुं उलंघन करीने भगवद्-प्राप्ति करी लीधी, तेवी रीते जे श्रीआचार्यचरणो पण अही “भगवद्-आज्ञानुं उलंघन करीने हुं श्रीभद्भागवतनी विवृति पूरी करी लईश-” जेवो आग्रह राभे तो गोपिकाओनुं अनुकरण करीने भगवद्-आज्ञानुं उलंघन करी देवुं अही विपरीत छे अने ते व कारणे अनुचित पण छे. विपरीत अटला माटे छे केमके गोपिकाओ माटे तेमना प्रियतम-भगवानना वाक्यो/आज्ञा भगवद्-प्राप्तिमां विघ्न उत्पन्न करवावाणा छे, ते कारणे गोपिकाओजे भगवाननी आज्ञा नहोती मानी अने अही तो भगवद्-आज्ञानुं पालन करवुं इणसाधक बनी रह्युं छे केमके आ आज्ञानुं पालन करवाथी भगवद्-प्राप्ति थर रही छे. आ कारणे श्रीभागवतनी विवृति संपूर्ण करवानो आग्रह विपरीत इण देवावाणो छे जे अनिष्ट परिणाम लावशे, तेथी श्रीआचार्यचरणो आ अधी वातो नो विचार करवा माटे पोताना अंतःकरणे “मारुं वाक्य सावधानीथी सांभण” जेम कहीने सावधान करी रह्या छे.

यद्यपि बोध ही कराना है तो समस्त इंद्रियों को ही बोध कराना उचित है, तथापि समस्त इंद्रियाँ अन्तःकरण के ही अधीन हैं अतः आचार्यचरण अन्तःकरण को ही बोध करा रहे हैं । जैसे किसी राजा को वश में कर लिया जाय तो समस्त राज्य अपनेआप ही वश में हो जाता है, वैसे ही अन्तःकरण को प्रबोधित करने से समस्त इंद्रियों का प्रबोधन अपने आप ही हो जायेगा अतः आपश्री अन्तःकरण का ही प्रबोधन कर रहे हैं । अब मद्राक्यं सावधानतया शृणु इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं । यद्यपि आचार्यचरण ‘मेरा वाक्य सुनो’ इतना ही कह देते, तो उससे भी प्रबोधन तो हो ही जाता परंतु आपश्री जो “मेरा वाक्य सावधानीपूर्वक सुनो” यों कह रहे हैं उसका आशय यह है कि-जैसे अपने धर्मिमार्ग के भावातिरेक के कारण फलप्रकरण में गोपिकाओं ने भगवद्-आज्ञा का उलंघन करके भगवद्-प्राप्ति कर ली, वैसे यदि आचार्यचरण भी यहाँ “भगवद्-आज्ञा का उलंघन करके मैं श्रीभद्-भागवत की विवृति संपूर्ण कर लूँगा”- ऐसा आग्रह रखें तो गोपिकाओं का अनुकरण करके भगवद्-आज्ञा का उलंघन कर देना यहाँ विपरीत है और इसी कारण अनुचित भी है । विपरीत इसलिए है क्योंकि गोपिकाओं के लिए उनके प्रियतम-भगवान के वाक्य/आज्ञा भगवद्-प्राप्ति में विघ्न उत्पन्न करने वाले हैं, इस कारण से गोपिकाओं ने भगवान की आज्ञा नहीं मानी थी और यहाँ तो भगवद्-आज्ञा पालन करनी फलसाधक सिद्ध हो रही है क्योंकि इस आज्ञा का पालन करने से भगवद्-प्राप्ति हो रही है । इस कारण श्रीभागवत की विवृति संपूर्ण करने का आग्रह विपरीत फल देने वाला है, जो अनिष्ट परिणाम लाएगा अतः आचार्यचरण इन समस्त बातों का विचार करने के लिए अपने अन्तःकरण को ‘मेरा वाक्य सावधानीपूर्वक सुनो’ यों कह कर सावधान कर रहे हैं ।

कदाचिदतिप्रौढ्या विलम्बकरणे बाधकमाहुः । कृष्णात्परं नास्ति दैवमिति । कृष्णात्फलरूपात्परमतिरिक्तं दैवं -परमेष्ठरूपम् । दैवमितिपदाद्विवृतात्कृष्णाः * सर्वेष्वर्था अत्र विवक्षिताः । तव धर्मिमार्गक्रीडास्थानमिदमेव । (क्रीडायां) विजिगीषाप्यत्रैव । (भक्तेन सह) स्वमार्गीयव्यवहारोपि । (भक्ताय स्वमाहात्म्यद्योतनेन) द्युतिरप्यत एव, नो चेत्तद्व्यतिरेकेण शुष्कतैवा (भक्तानां) समयविशेषे स्तुतिरपि । (भक्तायमोददानं यथा कालीयदमनेन) । मोदोऽपि तथा । भावविशेषजनितमदोपि परमनिर्वृतिजनितः स्वप्नोपि । स्वप्नान्तरं भावविशेषसूचककटाक्षसूचितरसेच्छापि । तदनन्तरं स्वाभिलषितस्थानगतिरपि, (भक्तसमीपगमनम्) इत्यादिकं सर्वमेव पूर्वभावप्रौढ्या बाध्यत इत्यनिष्टहेतुत्वात् प्रौढिस्त्याज्येत्यत उक्तं कृष्णात्परं नास्ति दैवमिति ।

हवे कदाय अति भावावेशने कारणे भगवद्-आज्ञानुं पालन करवामां विलंब थर नय तो आपश्री तेने बाधक अतावता कृष्णात्परं नास्ति दैवं वगरे शब्दोथी समझवी रह्या छे. तात्पर्य जे छे के इलइप कृष्ण सिवाय कोर बीजे श्रेष्ठ, परम ईष्टइप देव

નથી. દૈવં શબ્દ “દિવુ” ધાતુ થી બન્યો છે, આ શબ્દનો પ્રયોગ કરીને શ્રીઆચાર્યચરણોએ “દિવુ” ધાતુ ના બધા અર્થ અહીં બતાવી દીધા છે. “દિવુ” ધાતુ ક્રીડાના અર્થમાં વપરાય છે પરંતુ અન્ય બીજા અર્થોમાં પણ એનો પ્રયોગ કરવામાં આવે છે. જેમકે- વિજિગીષા(જીતવાની ઈચ્છા) , વ્યવહાર, ધૃતિ(માહાત્મ્ય, પ્રકાશ કે તેજ) , સ્તુતિ, મોદ(પ્રસન્નતા) , મદ, સ્વપ્ન, કાંતિ અને ગતિ. શ્રીઆચાર્યચરણો શ્રીકૃષ્ણને ‘દૈવ’ શબ્દથી સંબોધિત કરી રહ્યા છે. જેના દ્વારા આપશ્રી આ બધાજ અર્થોને શ્રીકૃષ્ણ સાથે જોડી રહ્યા છે. અર્થાત્ આ ધર્મિમાર્ગમાં શ્રીકૃષ્ણની ક્રીડાનું સ્થાન એ જ પુષ્ટિમાર્ગ છે. પ્રભુને ક્રીડામાં જીતવાની ઈચ્છા અહીં જ થાય છે. પ્રભુ ભક્તોની જોડે માર્ગાનુસાર વ્યવહાર અહીં જ કરે છે. ભક્તોને પોતાના માહાત્મ્યનું જ્ઞાન કરાવવા થકી તેમનું માહાત્મ્ય પણ અહીં જ છે. નહીં તો જો તેઓ ભક્તોને પોતાના માહાત્મ્યનું જ્ઞાન ન કરાવે તો બધે શુષ્કતા જ રહી જાય. સમયવિશેષ પર ભક્તો તેમની સ્તુતિ પણ કરે છે. પ્રભુ પોતાના ભક્તોને પ્રસન્ન પણ એ જ માર્ગમાં કરે છે, જેમ કાળિયાનાગનું દમન કરીને તેમણે પોતાના ભક્તોને પ્રસન્ન કર્યા હતા. પોતાના ભાવાવેશ ને કારણે ભક્તોને મદ પણ અહીં જ થાય છે. આનંદને કારણે થવાવાળું સ્વપ્ન, અને તે સ્વપ્ન પછી કોઈ ભાવાવિશેષને બતાવવાવાળી ભગવાનના કટાક્ષથી સૂચિત થવાવાળી રસ-ઈચ્છા અને રસ ઈચ્છા પછી પોતાના ભક્તની પાસે પોતાના ગમતા સ્થાન પર પ્રભુનું જવું -વગેરે ભગવાનની સમસ્ત લીલાઓ ભગવાનની આજ્ઞાનું ઉલ્લંઘન કરી દેવાથી સિદ્ધ નહીં થાય તેથી એવું કરવું અનિષ્ટનું કારણ છે અને તેથી જ શ્રીઆચાર્યચરણો આજ્ઞા કરે છે કે મારે મારો ભાવાવેશ છોડી દેવો જોઈએ, આને આપશ્રી કૃષ્ણાત્પરં નાસ્તિ દૈવં વગેરે શબ્દોથી કહી રહ્યા છે.

અબ કદાચિત્ અતિ ભાવાવેશ કે કારણ ભગવદ્-આજ્ઞા કા પાલન કરને મેં વિલંબ હો જાય તો આપશ્રી ઉસે બાધક બતાતે હુવ્ કૃષ્ણાત્પરં નાસ્તિ દૈવં ઇત્યાદિ શબ્દોં સે સમજ્ઞા રહે હૈં । તાત્પર્ય યહ હૈ કિ ફલરૂપ-કૃષ્ણ સે અતિરિક્ત કોઈ દૂસરા શ્રેષ્ઠ, પરમ-ઇષ્ટરૂપ દેવ નહીં હૈ । ‘દૈવં’ શબ્દ દિવુ-ધાતુ સે બના હૈ, ઇસ શબ્દ કા પ્રયોગ કરકે આચાર્યચરણોં ને દિવુ ધાતુ કે સમી અર્થ યહાં બતા દિવ્ હૈં । દિવુ ધાતુ ક્રીડા કે અર્થ મેં પ્રયુક્ત કિયા જાતા હૈ પરંતુ અન્ય દૂસરે અર્થોં મેં મી ઇસકા પ્રયોગ કિયા જાતા હૈ જૈસે - વિજિગીષા (જીતને કી ઇચ્છા), વ્યવહાર, ધૃતિ (માહાત્મ્ય; પ્રકાશ યા તેજ), સ્તુતિ, મોદ (પ્રસન્નતા), મદ, સ્વપ્ન, કાંતિ ઓર ગતિ । આચાર્યચરણ શ્રીકૃષ્ણ કો દૈવ શબ્દ સે સંબોધિત કર રહે હૈં, જિસકે દ્વારા આપશ્રી ઇન સમસ્ત અર્થોં કો શ્રીકૃષ્ણ સે જોડ રહે હૈં અર્થાત્ ઇસ ધર્મિમાર્ગ મેં શ્રીકૃષ્ણ કી ક્રીડા કા સ્થાન યહી પુષ્ટિમાર્ગ હૈ । પ્રભુ કો ક્રીડા મેં જીતને કી ઇચ્છા યહીં હોતી હૈ । ભક્તોં કે સાથ પ્રભુ અપને માર્ગાનુસાર વ્યવહાર યહીં કરતે હૈં । ભક્તોં કો અપને માહાત્મ્ય કા જ્ઞાન કરાને કે દ્વારા ઁનકા માહાત્મ્ય મી યહીં હૈ, અન્યથા યદિ વે ભક્ત કો અપના માહાત્મ્યજ્ઞાન ન કરાવેં તો સર્વત્ર શુષ્કતા હી રહ જાય । સમયવિશેષ પર ભક્ત ઁનકી સ્તુતિ મી યહીં કરતે હૈં । પ્રભુ અપને ભક્તોં કો પ્રસન્ન મી ઇસી માર્ગ મેં કરતે હૈં, જૈસે કાલિયા-નાગ કા દમન કરકે ઁનહોંને અપને ભક્તોં કો પ્રસન્ન કિયા થા । અપને ભાવાવેશ કે કારણ ભક્તોં કો મદ મી યહીં હોતા હૈ । આનંદ કે કારણ હોનેવાલા સ્વપ્ન, ઓર ઁસ સ્વપ્ન કે પશ્ચાત્ કિસી ભાવવિશેષ કો બતાનેવાલી ભગવાન કે કટાક્ષ સે સૂચિત હોને વાલી રસ-ઇચ્છા ઓર રસ-ઇચ્છા કે પશ્ચાત્ અપને ભક્ત કે સમીપ અપને મનભાવન સ્થાન પર પ્રભુ કા જાના - ઇત્યાદિ ભગવાન કી સમસ્ત લીલાવેં ભગવાન કી આજ્ઞા કા ઉલ્લંઘન કર દેને સે સિદ્ધ નહીં હોંગી અતઃ ઁસા કરના અનિષ્ટ કા કારણ હૈં ઓર ઇસી કારણ આચાર્યચરણ આજ્ઞા કરતે હૈં કિ, મુજ્જે મેરા ભાવાવેશ ત્યાગ દેના ઇચ્છિવ્ । ઇસે આપશ્રી કૃષ્ણાત્પરં નાસ્તિ દૈવં ઇત્યાદિ શબ્દોં સે કહ રહે હૈં ।

નનુ શ્રીભાગવતવિચારઃ પુરુષોત્તમપર્યવસાય્યેવેતિ કદાચિત્પ્રૌદિરુચિતા ભવેદિતિ શઙ્કાનિરાકરણાર્થમુક્તમ્ વસ્તુતો દોષવર્જિતમિતિ । અન્નાયં ભાવઃ, યદ્યપિ શ્રીભાગવતવિચારઃ પુરુષોત્તમપર્યવસાયી તથાપિ વિચારે ક્રિયમાણે સ્વસિદ્ધાન્તનિરૂપણાર્થં તદ્વિરુદ્ધશાસ્ત્રાન્તરીયસિદ્ધાન્તનિરાકરણમાવશ્યકમેવ, ભગવદાજ્ઞાહેતુકફલવિચારે ઇતદ્વાવાતિરિક્તભાવપ્રવેશ ઇવ ફલમાર્ગે દોષ ઇતિ વસ્તુવિચારે ક્રિયમાણે ફલસ્યૈવ નિર્દુષ્ટત્વં ભાવાન્તરપ્રવેશહેતુવસ્તુનઃ સર્વાત્મના ન નિર્દુષ્ટત્વમિતિજ્ઞાપનાયોક્તં વસ્તુતઃ સ્વરૂપતો ન નિર્દુષ્ટત્વમ્ ॥ ૧ ॥

પરંતુ અહીં એક પ્રશ્ન એ થાય છે કે શ્રીભાગવતનો વિચાર અથવા એના પર ટીકા લખવી આખરે તો પુરુષોત્તમનું જ કાર્ય છે. તેથી કદાચિત્ શ્રીઆચાર્યચરણોનું આ પ્રકારે ભાવાવેશમાં વહી જવાથી ભગવદ્-આજ્ઞાનું ઉલ્લંઘન કરવું ઉચિત પણ કહી શકાય છે. જો આવી શંકા થતી હોય તો આપશ્રી વસ્તુતો દોષવર્જિતમ્ વગેરે શબ્દોથી તેનું નિરાકરણ કરી રહ્યા છે. અહીં ભાવ એ છે કે, જો કે શ્રીભાગવતનો ગૂઢાર્થ પ્રકટ કરવો પુરુષોત્તમનું જ કાર્ય છે, પરંતુ વિચાર કરવા પર સમજાશે કે પોતાના સ્વમાર્ગીય સિદ્ધાંતોનું નિરૂપણ કરવા માટે પોતાના માર્ગની વિરુદ્ધ અન્ય બીજા શાસ્ત્રોના સિદ્ધાંતોનું નિરાકરણ કરવું પણ તો જરૂરી છે જ. અને જેમાં ભગવદ્-આજ્ઞા થઈ હોય, તેના ફલનો વિચાર કરીએ તો સમજે કે ભગવદ્-ભાવથી અલગ જો કોઈ બીજો ભાવ આપણામાં પ્રવેશ કરી જાય તો તે આ ફલમાર્ગ (પુષ્ટિમાર્ગ)માં દોષ કહેલો છે, તેથી વાસ્તવિકતાનો વિચાર કરીએ તો આ માર્ગનું ફળ-શ્રીકૃષ્ણ જ નિર્દુષ્ટ સિદ્ધ થાય છે. તેથી તેમના સિવાય બીજા ભાવોમાં પ્રવેશ કરાવવાવાળી વસ્તુઓ સંપૂર્ણ રીતે દોષ વગરની સિદ્ધ નથી થતી, આ બતાવવા માટે

आपश्री कही रक्षा छे के भगवद्-भावथी भिन्न भाव वस्तुतः अटले के स्वरूपतः निर्दुष्ट नथी।

परंतु यहाँ एक प्रश्न यह होता है कि श्रीभागवत का विचार या उस पर टीका लिखनी अंततोगत्वा तो पुरुषोत्तम का ही कार्य है अतः कदाचित् आचार्यचरणों का इस प्रकार से भावावेश में बहकर भगवद्-आज्ञा का उल्लंघन करना उचित भी ठहराया जा सकता है- यदि ऐसी शंका होती हो तो आपश्री वस्तुतो दोषवर्जितम् इत्यादि शब्दों से निराकरण कर रहे हैं। यहाँ भाव यह है कि, यद्यपि श्रीभागवत का गूढार्थ प्रकट करना पुरुषोत्तम का ही कार्य है परंतु विचार करने पर ज्ञात होगा कि अपने स्वमार्गीय सिद्धांतों का निरूपण करने के लिए अपने मार्ग के विरुद्ध अन्य दूसरे शास्त्रों के सिद्धांतों का निराकरण करना भी तो आवश्यक है ही। और जिसमें भगवद्-आज्ञा हुई हो, उसके फल का विचार करें तो समझिए कि भगवद्-भाव से अतिरिक्त यदि कोई दूसरा भाव हममें प्रवेश कर जाय तो वह इस फलमार्ग (पुष्टिमार्ग) में दोष कहा गया है अतः वास्तविकता का विचार करें तो इस मार्ग के फल-श्रीकृष्ण ही निर्दुष्ट सिद्ध होते हैं, उनसे अतिरिक्त इतर भावों में प्रवेश कराने वाली वस्तुएँ संपूर्णरूप से दोषरहित सिद्ध नहीं होती; यह बताने के लिए आपश्री कह रहे हैं कि भगवद्-भाव से भिन्न भाव वस्तुतः अर्थात् स्वरूपतः निर्दुष्ट नहीं है ॥१॥

एवं प्रबोधनेपि पूर्वप्रौढिकृताज्ञोल्लङ्घनजनितापराधेन यदि भगवानपमानेन फलविलम्बं कुर्यात्तदोभयभ्रंशादेकमपि कार्यं न सिध्येदिति श्रीभागवतार्थविवृतिसमाप्त्याग्रह एव समीचीन इति मनःकलिलं लौकिकदृष्टान्तेन कैमुतिकन्यायेन निरस्यन्ति, चाण्डाली चेदिति ।

चाण्डाली चेद्राजपत्नी जाता राज्ञा च मानिता ।

कदाचिदपमानेपि मूलतः का क्षतिर्भवेत् ॥ २ ॥

चाण्डाली चाण्डालजातीया राजपत्नी जाता राज्ञा पत्नीत्वेन परिगृहीता, इतर पत्न्यपेक्षयाधिकं मानिता

कदाचित्प्रमादतस्तस्या अपराधाच्चेदपमानोपि कृतस्तदा मूलतः राजपत्नीत्वतः का क्षतिर्भवेत् राजपत्नीत्वं न गच्छतीत्यर्थः ।

आ प्रकारे पोताना अंतःकरणे प्रबोधन करवाथी પણ पहलां जे भावावेशमां आवीने भगवद्-आज्ञानुं उल्लंघन करवाथी अपराध थयो छे, ते अपराधथी थयेला भगवद्-अपमानने लीधे जे भगवान फलदानमां विलंब करे, तो न तो श्रीभागवतनी टीका पूर्ण थई शके अने न तो भगवद्-प्राप्ति; तेथी अंने तरफथी वात न बनवाने कारणे ओक પણ काम थशे नहीं. आ कारणे हवे तो श्रीभागवतनुं विवरण समाप्त करवानो आग्रह राभवो जे उचित छे - आ प्रकारनी मननी द्विधानुं हवे श्रीआचार्यचरणो आगणना श्लोकमां ओक लौकिक दृष्टांत आपीने कैमुतिकन्याय द्वारा यांडांली येत् वगेरे शब्दोथी निराकरण करी रक्षा छे.

दृष्टांत ये छे के, मानी लो कोई यांडाण नतनी स्त्री राजपत्नी बननी गई अने राज्ञे तेने पोतानी पत्नीना रूपमां स्वीकारी लीधी अने अने पोतानी भीष्म पत्नीओ करतां वधारे मान आय्युं. हवे कदाय तेणे प्रमादवश कोई अपराध करी दीधो अने राज्ञे तेनुं अपमान પણ करी दीधुं तो मूलतः अर्थात् राजपत्नीना रूपमां अंनी शुं क्षति थई? तेनुं राजपत्नीनुं पद तो नहीं गयुं ने? आ अर्थ छे.

इस प्रकार से अपने अन्तःकरण का प्रबोधन करने पर भी, पहले जो भावावेश में आकर भगवद्-आज्ञा का उल्लंघन करने से अपराध हुआ है, उस अपराध से हुए भगवद्-अपमान के कारण यदि भगवान फलदान में विलंब करें, तो न भागवत की टीका पूर्ण हो पायी और न ही भगवद्-प्राप्ति; अतः दोनों तरफ से बात न बनने के कारण एक कार्य भी सिद्ध न होगा, इस कारण से अब तो भागवत का विवरण समाप्त करने का आग्रह रखना ही उचित है - इस प्रकार की मन की दुविधा का अब आचार्यचरण आगे के श्लोक में एक लौकिक दृष्टांत देकर कैमुतिकन्याय द्वारा चाण्डाली चेत् इत्यादि शब्दों से निराकरण कर रहे हैं।

दृष्टांत यह है कि मान लो, कोई चाण्डाल जाति की स्त्री राजपत्नी बन गई और राजा ने उसे अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार ली और उसे अपनी दूसरी पत्नियों की अपेक्षा अधिक सम्मान दिया। अब कदाचित् उसने प्रमादवश कोई अपराध कर दिया और राजा ने उसका अपमान भी कर दिया, तो मूलतः अर्थात् राजपत्नी के रूप में उसकी क्या क्षति हुई? उसका राजपत्नी का पद तो नहीं गया न? यह अर्थ है।

यद्यप्यस्यां यज्ञसंयोगाभावात्पत्नीत्वं न सम्भवति तथापि *भोग्या जातेतिपदं विहाय पत्नीपदोपादानाद्यथा पत्नी त्यागयोग्या न भवति, तथैवास्यामप्यङ्गीकाराभिमानो ज्ञापितः । तेन स्वातिरिक्तादृश्यत्वस्पर्शायोग्यत्वान्यविनियोगाभावादयो धर्मा ज्ञापिताः । यदि मूलपदेन चाण्डालीत्वमुच्यते तदा मानस्य चाण्डालीत्वमेव हेतुः स्यात्तु राजपत्नीत्वम् । अत्र तु सम्मानने राजपत्नीत्वमेव हेतुत्वेनोच्यते न तु चाण्डालीत्वम्, अन्यथा पत्नी जातेतिपदं व्यर्थं स्यात् । तस्मात्तत्कृतापमानेपि तथा न खेदः कार्यः, राजपत्नीत्वरूपमूलस्य विद्यमानत्वात् ।

भले आवी स्त्री जेने राज्ञे पोतानी पत्नी बनावी दीधी छे, ते राज्ञे साथे यज्ञ-कर्मकांड वगेरेमां पति-पत्नीना रूपमां

पतिनी साथे नहीं बेसी शकती, तेथी तेने पत्नी न कही भोग्या न कहेवुं उचित હતું પરંતુ શ્રીઆચાર્યચરણો એને ભોગ્યા ન કહીને 'પત્ની' કહી રહ્યા છે કેમકે જેમ પત્નીનો ત્યાગ નથી થઈ શકતો તેવી રીતે જ ચાંડાલીનો પણ ત્યાગ નથી કરી શકાતો કેમકે હવે તો તે રાજની પત્ની બની ચુકી છે. (શ્રીઆચાર્યચરણોએ આ ઉદાહરણ દ્વારા ચાંડાલીમાં રાજના દ્વારા સ્વીકાર કર્યાનું અભિમાન સૂચિત કર્યું છે. આનાથી એ સમજાય છે કે હવે તેને રાજ સિવાય બીજા કોઈ ન તો જોઈ શકે છે, ન સ્પર્શ કરી શકે છે અને ન તો કોઈ એનો ઉપભોગ કરી શકે છે.)

જો મૂળશ્લોકમાં શ્રીઆચાર્યચરણોએ કેવળ ચાંડાલી કહ્યું હોત તો, એ સિદ્ધ થઈ જાત કે રાજ દ્વારા સન્માનિત થવાનું કારણ ચાંડાલી હોવું છે, રાજની પત્ની હોવું નહીં. પરંતુ અહીં તો શ્રીઆચાર્યચરણોએ એમ કહ્યું છે કે તે ચાંડાલી રાજપત્ની બની ગઈ તેથી લોકમાં જો તે સ્ત્રી સન્માનિત થઈ રહી છે તો એનું કારણ તેનું રાજપત્ની થવું છે, ચાંડાલી હોવું નહીં. નહીં તો પછી શ્રીઆચાર્યચરણો ને “રાજપત્ની” એમ કહેવાની જરૂર જ નહોતી. અહીં ચાંડાલી અને રાજપત્ની ના ઉદાહરણને સમજો. ટીકાકાર આ સમજાવવાનો પ્રયાસ કરી રહ્યો છે કે આચાર્યચરણોએ મૂળશ્લોક માં એમ આજ્ઞા કરી છે કે “તે ચાંડાલી રાજપત્ની થઈ ગઈ” - આનો તાત્પર્ય આ છે કે રાજએ કેવલ ભોગવા ખાતર તે ચાંડાલી ને નથી અપનાવી અપિતુ તેની જોડે વિવાહ કરીને એને પોતાની પત્ની પણ માની છે અને એટલા જ માટે લોક માં પણ તે ચાંડાલી ભોગ્યાના રૂપમાં નિંદિત ન થઈ ને રાજપત્ની ના રૂપે સન્માનિત થવાની. આ જ કારણે આચાર્યચરણોએ એમના ઉદાહરણમાં આ કહ્યું કે-ચાંડાલીસ્ત્રી પછી રાજની પત્ની પણ બની ગઈ અને એટલા માટે જ હવે રાજ એનો ત્યાગ નહીં કરે. જો રાજને તે ચાંડાલી પ્રત્યે લાગણી ન હોત, તો એણે પોતાની પત્ની બનાવવાની શી જરૂર હતી? તેથી આપશ્રી આ ઉદાહરણ થકી આપણને આ સમજાવવા માગે છે કે, ભગવદ્-સમર્પણ ની પહેલાં સમસ્ત જીવોની સ્થિતિ પણ તે ચાંડાલીની જેમ જ છે અને સમર્પણ થઈ ગયા પછી રાજપત્ની જેવી. તેથી એકવાર સમર્પણ થઈ ગયા પછી આપણને પ્રભુ દ્વારા ત્યાગ થઈ જવાનો ભય ન રાખવો જોઈએ. તેથી રાજ કદાચ તેનું અપમાન પણ કરી દે તો ખેદ ન કરવો જોઈએ કેમકે અપમાન થવા પર પણ તેનું મૂળ રાજપત્નીનું રૂપ તો વિદ્યમાન છે જ.

यद्यपि ऐसी स्त्री जिसको राजा ने अपनी पत्नी बना लिया है, वह राजा के साथ यज्ञ-कर्मकांड इत्यादि में पति-पत्नी के रूप में पति के संग नहीं बैठ सकती अतः उसे पत्नी न कहकर भोग्या ही कहना उचित था परंतु आचार्यचरण उसे भोग्या न कह कर पत्नी कह रहे हैं क्योंकि जैसे पत्नी का त्याग नहीं किया जा सकता, वैसे ही चाण्डाली का भी त्याग नहीं किया जा सकता क्योंकि अब वह राजा की पत्नी बन चुकी है। आचार्यचरण ने इस उदाहरण के द्वारा चाण्डाली में राजा के द्वारा स्वीकार किए जाने का अभिमान सूचित किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि अब उसे राजा के अतिरिक्त अन्य दूसरा कोई न देख सकता है, न स्पर्श कर सकता है और न कोई उसका उपभोग ही कर सकता है। यदि मूल श्लोक में आचार्यचरणों ने केवल चाण्डाली कहा होता तो, यह सिद्ध हो जाता कि राजा द्वारा सम्मानित करने का कारण चाण्डाली होना है, राजा की पत्नी होना नहीं। परंतु यहाँ तो आचार्यचरणों ने यह कहा है कि वह चाण्डाली राजपत्नी बन गई अतः लोक में जो वह चाण्डाली-स्त्री सम्मानित हो रही है उसका कारण उसका राजपत्नी होना है; चाण्डाली होना नहीं। अन्यथा तो फिर आचार्यचरणों को राजपत्नी कहने की आवश्यकता ही नहीं थी। (यहाँ चाण्डाली एवं राजपत्नी के उदाहरण को समझें। टीकाकार यह समझाने का प्रयास कर रहे हैं कि आचार्यचरणों ने मूलश्लोक में यह आज्ञा की है कि “वह चाण्डाली राजपत्नी बन गई” - इसका तात्पर्य यह है कि राजा ने केवल भोगने के लिए उस चाण्डाली को नहीं अपनाया है अपितु उससे विवाह करके उसे अपनी पत्नी भी माना है और इसी कारण लोक में भी वह चाण्डाली अब भोग्या के रूप में निंदित न होकर राजपत्नी के रूप में सम्मानित की जायेगी। इसी कारण आचार्यचरणों ने अपने उदाहरण में यह कहा कि, चाण्डालीस्त्री फिर राजपत्नी भी बन गई और इसी कारण अब राजा उसका त्याग नहीं करेगा। यदि राजा उस चाण्डाली के प्रति गंभीर न होता तो उसे अपनी पत्नी क्यों बनाता ? अतः आपश्री इस उदाहरण द्वारा हमें यह समझाना चाह रहे हैं कि भगवद्-समर्पण से पूर्व समस्त जीवों की स्थिति भी उस चाण्डाली जैसी ही है और भगवद्-समर्पण हो जाने के पश्चात् राजपत्नी के जैसी। अतः एकबारगी समर्पण हो जाने के पश्चात् हमें प्रभु द्वारा त्याग दिए जाने का भय नहीं रखना चाहिए।) अतः राजा यदि उसका अपमान भी कर दे तो उसे खेद नहीं करना चाहिए क्योंकि अपमान होने पर भी उसका मूल राजपत्नी का रूप तो विद्यमान है ही।

यथा फाल्गुने मासि प्राचीनपत्रापगमेऽपि समूलस्य वृक्षस्य नूतनपल्लवाद्युद्गमेन पुनर्यथापूर्वत्वं तथा पत्नीत्वे सति पुनः पूर्ववदेव भविष्यतीति विचार्य खेदो न कार्यः। चेदिति पदादयोग्यतायामपि दैवगत्याङ्गीकारेपि यत्रैवं व्यवस्था लौकिके, तत्र सर्वथाङ्गीकारयोग्ये, अङ्गीकर्तुरलौकिकत्वे, अङ्गीकारस्य च नित्यत्वे, तवेयं फलविलम्बचिन्ता सर्वात्मना नोचितेति नाग्रहः

કર્તવ્ય: । યદિ વિલમ્બ: સોપિ રસસ્ય સંયોગવિપ્રયોગાત્મકત્વાદ્વિલમ્બસ્ય વિપ્રયોગરસાત્મકત્વાત્ ફલમધ્યપાત્યેવેતિ સર્વમવદાતમ્ । એવમલૌકિકપ્રકારેણ સ્વમન:પ્રબોધનેનાનુષઙ્ગિકી સ્વમાર્ગીયાણામપિ શિક્ષા જ્ઞાપિતા ॥ ૨ ॥

જે રીતે ફાગણ મહિનામાં જુના પાન પડી ગયા પછી પણ વૃક્ષમાં નવા પાન આવવાથી તે ફરીથી હર્બુભર્યુ થઈ જાય છે, તે રીતે રાજાની પત્ની બની જવાને કારણે ભલે તે અપમાનિત થઈ જાય છતાં તે પણ પહેલાંની જેવી જ થઈ જશે, તેવો વિચાર કરીને તેણે ખેદ ન કર્યો જોઈએ. ચેત્ શબ્દથી એમ સમજાય છે કે, જ્યાં લૌકિકમાં પણ એવી વ્યવસ્થા છે કે યોગ્યતા ન થવા પર પણ ભાગ્યવશ આવી રીતે અંગીકાર કરી શકાય છે, ત્યાં શ્રીઆચાર્યચરણો કહે છે કે, “હે મારા અંત:કરણ ! તું તો સર્વથા અંગીકારયોગ્ય છે, અંગીકાર કરવાવાળો પણ અલૌકિક છે અને એનો અંગીકાર કરવો પણ નિત્ય છે તેથી તારી આ રીતે ફળ વિલંબની ચિંતા કરવી બધી રીતે અનુચિત છે. તેથી ભાગવતનું વિવરણ પૂરું કરવાનો આગ્રહ ન રાખ.” જે પ્રભુ ફળદાનમાં વિલંબ કરે તો પણ એમ સમજે કે રસ પણ સંયોગાત્મક અને વિપ્રયોગાત્મક એમ બે પ્રકારનો હોય છે અને વિલંબ તો વિપ્રયોગાત્મક રસરૂપ હોવાથી તે વિલંબ પણ ફલરૂપ જ છે. આ પ્રકારે શ્રીઆચાર્યચરણોએ અહીં અલૌકિક પ્રકારથી પોતાના મનનું પ્રબોધન કરીને પોતાના માર્ગના અનુયાયીઓને પણ બોધ આપ્યો છે.

જિસ પ્રકાર ફાલ્ગુન માસ મેં પુરાને પત્તે ઝઙ્ઙા જાને કે બાદ મી વૃક્ષ મેં નવે પત્તે આને સે વહ પુન: હરામરા હો જાતા હૈ, વૈસે હી રાજા કી પત્ની બન જાને કે કારણ અપમાનિત હોને પર મી વહ પહેલે કી હી તરહ હોં જાયેગી, યહ વિચાર કરકે ઉસે યેદ નહીં કરના યાહિયે । ચેત્ શબ્દ સે યહ જ્ઞાત હોતા હૈ કિ જબ લૌકિક મેં ઈસી વ્યવસ્થા હૈ કિ યોગ્યતા ન હોને પર મી ભાગ્યવશ ઈસ પ્રકાર સે અંગીકાર કિયા જા સકતા હૈ, વહાં આચાર્યચરણ કહતે હૈં કિ, હે મેરે અન્ત:કરણ ! તુમ તો સર્વથા અંગીકાર કે યોગ્ય હો, અંગીકાર કરને બાલા મી અલૌકિક હૈ એવં ઉસકે દ્વારા અંગીકાર કિયા જાના મી નિત્ય હૈ અત: તુમ્હે ઈસ પ્રકાર સે ફલવિલંબ કી ચિંતા કરની સમી પ્રકાર સે અનુચિત હૈ, સો ભાગવત કા વિવરણ સંપૂર્ણ કરને કા આગ્રહ મત રહો । યદિ પ્રભુ ફલદાન મેં વિલંબ કરે, તો મી યહ સમજો કિ રસ મી સંયોગાત્મક એવં વિપ્રયોગાત્મક યોં દો પ્રકાર કા હોતા હૈ ઔર વિલંબ તો વિપ્રયોગાત્મક રસરૂપ હોને સે વહ વિલંબ મી ફલરૂપ હી હૈ । ઈસ તરહ સે આચાર્યચરણોં ને યહાં અલૌકિક પ્રકાર સે અપને મન કા પ્રબોધન કરકે અપને માર્ગ કે અનુયાયીયોં કો મી શિક્ષા દી હૈ ॥૨॥

यद्यपि फलविलम्बजनितः खेदो नास्ति तथापि भावप्रौढ्यभिमानहानिजनितः पश्चात्तापो जात इति खिन्नमन्तःकरणं प्रबोधयितुमाहुः समर्पणादिति ।

સમર્પણાદહં પૂર્વમુત્તમઃ કિં સદા સ્થિતઃ ।

કા મમાધમતા ભાવ્યા પશ્ચાત્તાપો યતો ભવેત્ ॥ ૩ ॥

માનહાનિજનિતઃ પશ્ચાત્તાપઃ સ્વસમાન એવોચિતો ન તુ સ્વીયત્વેન હિતાર્થ પ્રભુકૃતમાનહાનૌ । ભાવજનિતમાનોત્પત્તિયોગ્યતાપિ તવ પ્રશ્વસાધારણસમ્બન્ધેનૈવ જાતા ન તુ તતઃ પૂર્વમપીતિ વિચારયેતિ જ્ઞાપનાર્થમુક્તં પૂર્વમુત્તમઃ કિં સદા સ્થિત ઇતિ । સદા, અસમર્પણદશાયામપિ ઉત્તમઃ પૂર્વોક્તભાવયોગ્યઃ કિમહં સ્થિતઃ ? । તસ્માન્મમ પૂર્વોક્તભાવજનનયોગ્યતાઽભાવરૂપાઽધમતા, કા ભાવ્યા, કા કીદૃશી ભાવ્યા, વિચારણીયા । કીદૃશીતિપદાદધમતાયા નિરવધિત્વમુક્તમ્ । યસ્માત્સર્વાત્મના પશ્ચાત્તાપહેત્વભાવસ્તસ્માત્ત્વયાસ્મિન્નર્થે પશ્ચાત્તાપો ન કર્તવ્યઃ ॥ ૩ ॥

જે કે ફળમાં વિલંબ થયાનો ખેદ ન થયો હોય પણ ભાવાવેશની અધિકતાને કારણે પોતાના મનમાં ઉત્પન્ન થયેલું અભિમાન જ્યારે નષ્ટ થયું ત્યારે પશ્ચાત્તાપ તો થયો જ, તેથી તે ખિન્ન અંત:કરણનું પ્રબોધન કરવા માટે આપત્રી સમર્પણાત્ વગેરે શબ્દોથી આગળ કહી રહ્યા છે.

કોઈ આપણી બરોબરીવાળી વ્યક્તિ આપણા અભિમાનને નષ્ટ કરે તો મનમાં પશ્ચાત્તાપ થવો યોગ્ય છે. પણ જો સેવકના હિતનો વિચાર કરીને પ્રભુ પોતાના સેવકના માનનો નાશ કરે તો પશ્ચાત્તાપ કરવો યોગ્ય નથી. શ્રીઆચાર્યચરણો પોતાના અંત:કરણને એ સમજાવી રહ્યા છે કે-તે ભાવાવેશને કારણે પણ જે અભિમાન કર્યું, તે યોગ્યતા પણ તને પ્રભુના અસાધારણ સંબંધને કારણે જ મળી છે તેની પહેલાં નહીં, આ વિચાર કર-આ બતાવવા માટે શ્રીઆચાર્યચરણો કહી રહ્યા છે કે પૂર્વમુત્તમઃ કિં સદા સ્થિતઃ; સદા કહેવા થકી આપત્રી એમ કહી રહ્યા છે કે જે સમયે મેં સમર્પણ નહોતું કર્યું, ત્યારે શું એ દશામાં પણ હું ઉત્તમ જ હતો એટલે શું આ પ્રકારે ભાવાવેશની અધિકતામાં આવીને અભિમાન કરી શકતો? ના, તેથી મારી આવી યોગ્યતા ન હોવાથી મારે પોતાની કઈ અધમતાનો વિચાર કરવો જોઈએ? “કઈ પ્રકારની અધમતા” (કા મમાધમતા) શબ્દથી સમજાય છે કે, જીવમાં અધમતા તો નિરંતર

रहेवानी न छे. तेथी अही कोर पशु प्रकारना पश्चात्तापनो कोर हेतु न नथी, तेथी आपश्री कहे छे के कोर पश्चात्ताप न करवो न्नेर्ये .

यद्यपि फल में विलंब होने का खेद न हुआ हो परंतु भावावेश की अधिकता के कारण अपने मन में उत्पन्न हुआ अभिमान जब नष्ट हुआ तब पश्चात्ताप तो हुआ ही अतः उस खिन्न अन्तःकरण का प्रबोधन करने के लिए आपश्री **समर्पणात्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

कोई अपने बराबरवाला व्यक्ति अपने अभिमान को नष्ट करे तो मन में पश्चात्ताप होना उचित है परंतु यदि सेवक का हित विचार करके प्रभु अपने सेवक के मान को नष्ट करें तो पश्चात्ताप करना योग्य नहीं है। आचार्यचरण अपने अन्तःकरण को यह समझा रहे हैं कि, तुमने भावावेश के कारण भी जो अभिमान किया, वह योग्यता भी तुम्हें प्रभु के असाधारण संबंध के कारण ही प्राप्त हुई, उससे पहले नहीं यह विचार करो - यह बताने के लिए आचार्यचरण कह रहे हैं **पूर्वमुत्तमः किं सदा स्थितः**। सदा कहने के द्वारा आपश्री यह कह रहे हैं कि - जिस समय मैंने समर्पण नहीं किया था, क्या उस दशा में भी मैं उत्तम ही था अर्थात् क्या इस प्रकार से भावावेश की अधिकता में आकर अभिमान कर सकता था ?? नहीं, अतः मेरी योग्यता ऐसी न होने से मुझे अपनी कौन सी अधमता का विचार करना चाहिए? "किस प्रकार की अधमता (का ममाधमता)" इन शब्दों से ज्ञात होता है कि, जीव में अधमता तो निरंतर रहती ही है। इसलिए यहाँ किसी भी प्रकार के पश्चात्ताप का कोई हेतु ही नहीं है अतः आपश्री कहते हैं कि पश्चात्ताप नहीं करना चाहिए। ॥३॥

यद्यपि पश्चात्तापहेत्वभावात् पश्चात्तापत्याग उचितस्तथापि फले बहुकालविलम्बश्चेत्तदा किं कार्यमिति सन्दिहानमन्तःकरणं बोधयन्ति सत्यसङ्कल्प इति ।

सत्यसङ्कल्पतो विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यति ।

आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहन्यथा भवेत् ॥ ४ ॥

सत्यः यथार्थः **सङ्कल्पः** मनोविचारो यस्य तादृशत्वाद्विष्णुः बाह्याभ्यन्तरभेदेन रसव्याप्तः । अन्यथा फलदाने विलम्बं न करिष्यति । अस्मिन्नर्थेन्यथाभावशङ्कानिराकरणार्थं तुशब्दः । तस्मात्त्वया फलविलम्बसन्देहमपि त्यक्त्वा प्रभवाज्ञैव कार्या सततं, न तु भावप्रौढ्या कदाचिदप्यन्यथाभावः कार्यः । अकरणे बाधकमाहुः, स्वामिद्रोहन्यथा भवेदिति । अन्यथा आज्ञाया अकरणे स्वामिद्रोहो भवेत् ।

ने के पश्चात्तापनुं कोर करण अनतुं नथी तेथी पश्चात्ताप छोडी देवो न योग्य छे, छतां पशु ने इणदानमां भु न वधारे विलंब थर्य नथ तो शुं करवुं? आ प्रकारना संदिग्ध अंतःकरणे श्रीआचार्यचरणो आगणना श्लोकमां सत्यसंकल्पतः वगेरे शब्दोथी बोध करावी रह्या छे.

सत्यसंकल्पः अटले नेना मनना विचार यथार्थ छे, तेने विष्णु कहेवाय छे अने विष्णु बहार-अंदर अने बाबुथी रसथी ओतप्रोत छे. तेमणे लुव माटे ने विचार करी राप्यो छे, तेना इणदान करवामां विलंब नहीं करे. इणदानमां विलंबनी शंकांने दूर करवा माटे आपश्रीअे 'तु' शब्दो प्रयोग कर्यो छे. तेथी श्रीआचार्यचरणो पोताना अंतःकरणे सभनवी रह्या छे के, तारे इणदानमां थवावाणा विलंब ना संदेहने पशु छोडीने सतत् प्रभु-आज्ञाने अनुसार न कार्य करवुं न्नेर्ये. भावावेशमां आवीने प्रभु आज्ञाथी विपरीत न करवुं न्नेर्ये. शा माटे विपरीत न करवुं न्नेर्ये-आ श्रीआचार्यचरणो स्वामिद्रोहन्यथा भवेत् वगेरे शब्दोथी कही रह्या छे. अर्थात् आज्ञानुं पालन न करवाथी स्वामिद्रोह करवुं थर्य नथे.

यद्यपि पश्चात्ताप का कोई कारण नहीं बनता है इसलिए पश्चात्ताप त्याग देना ही उचित है, तथापि यदि फलदान में बहुत अधिक विलंब हो जाय तो क्या करना ? इस प्रकार के संदिग्ध अन्तःकरण को आचार्यचरण आगे के श्लोक में **सत्यसङ्कल्पतः** इत्यादि शब्दों से बोध करा रहे हैं।

सत्यसंकल्पः अर्थात् जिसके मन का विचार यथार्थ है, उसे विष्णु कहा जाता है और विष्णु बाहरी-भीतरी दोनों ओर से रस से ओतप्रोत हैं। उन्होंने जीव के लिए जो विचार रखा है, उसका फलदान करने में विलंब नहीं करेंगे।

फलदान में विलंब की शंका को दूर करने के लिए आपश्री ने तु शब्द का प्रयोग किया है। अतः आचार्यचरण अपने अन्तःकरण का समझा रहे हैं कि - तुम्हें फलदान में होनेवाले विलंब के संदेह को भी त्याग कर सतत प्रभु-आज्ञानुसार ही करना चाहिए; भावावेश में आकर प्रभु-आज्ञा से विपरीत नहीं करना चाहिए। क्यों विपरीत नहीं करना चाहिए - यह आचार्यचरण स्वामिद्रोहन्यथा भवेत् इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। अर्थात् आज्ञा पालन न करने पर स्वामिद्रोह करना हो जायेगा।

आज्ञैव कार्या सततमित्येतावतैव आज्ञाकरणसिद्धावपि बाधकोक्तेरयमाशयः । यथा फलप्रकरणे ब्रजसीमन्तिनीनां भावप्रौढ्या प्रभवाज्ञाया अकरणेपि कार्यं सिद्धं, तथा ममापि सेत्स्यतीत्यज्ञाननिवृत्त्यर्थमुक्तं स्वामिद्रोहन्यथा भवेदिति । अस्यायमर्थः, ब्रजसीमन्तिनीनां भावप्रौढ्या आज्ञोल्लङ्घनं प्रभोः स्वस्य च पुरुषार्थसाधकं जातम् । तद्दृष्टान्तेन तवैवङ्करणे उभयोरपि विपरीतफलकत्वज्ञापनाय बाधकत्वमुक्तम् । बाधकत्वे हेतुः, तासां प्रभवाज्ञोल्लङ्घनं फलप्रतिबन्धकनिराकरणे उपयुक्तं जातं, तेन प्रभोस्तासां च निरवध्यानन्दः सिद्धः । तव त्वाज्ञोल्लङ्घनं प्रभुदित्सितफलप्रतिबन्धकत्वेन प्रभोः क्रोधजननेन, तेन क्रोधेन तव फलविलम्बेन च, प्रभवपराधस्तव चानिष्टं भवेदिति तत्सर्वात्मना नैव कार्यमित्येतदर्थमुक्तं, स्वामिद्रोहन्यथा भवेदिति ॥४॥

पण अर्ही शंका अे थाय छे के, जे श्रीआचार्यचरणो “सतत् आज्ञानुसार न करवुं जेईअे (आज्ञैव कार्या सततं)” अेटवुं कही देता तो पण वात समजभां आवी न नय छे परंतु आपश्रीअे तेनी जेडे “अन्यथा स्वामिद्रोह थई नशे” आ पण कहुं छे, जेनी आशय अे छे के जेम इलप्रकरणमां व्रजगोपिकाओअे भावावेशमां आवीने प्रभु आज्ञा न मानी अने छतां पण तेमनुं कार्य सिद्ध थई गयुं, तेम अर्ही आपश्री जे अेम विचारे के “हुं पण भगवद्-आज्ञानुं उल्लंघन करी दईश, तो माइ कार्य पण सिद्ध थई नशे;” तो आ प्रकारना अज्ञानने दूर करवा माटे आपश्री कही रह्या छे के अेवुं करशुं तो स्वामिद्रोह करवो थई नशे. आनुं तात्पर्य अे छे के व्रजगोपिकाओअे भावावेशमां आवीने प्रभु-आज्ञानुं उल्लंघन करवाथी तेमनो अने प्रभुनो-अंनेनो पुइपार्थ सिद्ध थयो. परंतु श्रीआचार्यचरणो कहे छे के आ दृष्टांतने लईने जे तमे पण अेवुं न करशो तो अंने भाग्यथी विपरीत इण आवशे, तेथी आपश्रीअे अेवुं करवुं बाधक कहुं छे. हवे बाधकनुं कारण पण समजे. गोपिकाओ द्वारा प्रभु-आज्ञानुं उल्लंघन करवुं इणमां थवावाणा प्रतिबंधोनुं निराकरण करवावाणुं सिद्ध थयुं अने अेनाथी गोपिकाओ अने प्रभु अंनेने निरवधि-आनंद नी प्राप्ति थई. परंतु अर्ही आपश्री पोताना अंतःकरणने समजवी रह्या छे के जे प्रभु-आज्ञानुं पालन नही करीये तो प्रभु जे इण आपवा मांगे छे तेमां प्रतिबंध थशे, जेनाथी प्रभु कुपित थशे, जे कोपथी तने इणदानमां विलंब थशे, तुं प्रभुनो अपराध करीश अने जेनाथी ताहुं अनिष्ट थशे, आ कारणे कोई पण रीते आवुं न करवुं जेईअे. आथी श्रीआचार्यचरणो कही रह्या छे के स्वामिद्रोहन्यथा भवेत्

किंतु यहाँ शंका यह होती है कि यदि आचार्यचरण “सतत आज्ञानुसार ही करना चाहिए (आज्ञैव कार्या सततं)” इतना ही कह देते तो भी बात समझ में आ ही जाती है परंतु आपश्री ने इसके साथ साथ “अन्यथा स्वामिद्रोह हो जायेगा” यह भी कहा है, जिसका आशय यह है कि, जैसे फलप्रकरण में ब्रजगोपिकाओं ने भावावेश में आकर प्रभु-आज्ञा न मानी और फिर भी उनका कार्यसिद्ध हो गया, वैसे यहाँ मैं भी भगवद्-आज्ञा का उल्लंघन कर दूँगा, तो मेरा कार्य भी सिद्ध हो जायेगा तो इस प्रकार के अज्ञान को दूर करने के लिए आपश्री कह रहे हैं कि ऐसा करेंगे तो स्वामिद्रोह करना हो जायेगा । इसका तात्पर्य यह है कि ब्रजगोपिकाओं का भावावेश में आकर प्रभु-आज्ञा का उल्लंघन करने से उनका एवं प्रभु दोनों का पुरुषार्थ सिद्ध हुआ परंतु आचार्यचरण कहते हैं कि, इस दृष्टांत को लेकर यदि तुम भी ऐसा ही करोगे तो दोनों तरफ से विपरीत फल आएगा अतः आपश्री ने ऐसा करना बाधक कहा है । अब बाधक का कारण भी समझिए; गोपिकाओं द्वारा प्रभु-आज्ञा का उल्लंघन करना फल में होने वाले प्रतिबंधकों का निराकरण करना सिद्ध हुआ और इससे गोपिकाओं एवं प्रभु दोनों को निरवधि-आनंद की प्राप्ति हुई । परंतु यहाँ आपश्री अपने अन्तःकरण को समझा रहे हैं कि, यदि तुम प्रभु-आज्ञा का पालन नहीं करोगे तो प्रभु जो फल तुम्हें देना चाह रहे हैं, उसमें प्रतिबंध होगा, जिससे प्रभु कुपित होंगे, जिस कोप से तुम्हें फलदान में विलंब होगा, तुम प्रभु का अपराध करोगे और जिससे तुम्हारा अनिष्ट होगा, इस कारण किसी भी प्रकार से ऐसा नहीं करना चाहिए । इस कारण से आचार्यचरण कह रहे हैं कि स्वामिद्रोहन्यथा भवेत् ॥४॥

एवं सोपपत्तिकमाग्रहाभावमुपपाद्य कदाचित्पूर्वकृताग्रहेण प्रभुकोपे कथं स्वाभिलषितसिद्धिरिति सन्दिहानमन्तःकरणं प्रबोधयन्ति सेवकस्य त्विति ।

सेवकस्य तु धर्मोयं स्वामी स्वस्य करिष्यति ।

आज्ञा पूर्वं तु या जाता गङ्गासागरसङ्गमे ॥ ५ ॥

यापि पश्चान्मधुवने न कृतं तद्द्वयं मया ।

देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः ॥ ६ ॥

मया यत्पूर्वश्लोक उपपादितं, तव सेवकस्यासाधारणस्वाभाविकधर्मत्वेन तच्चेत्त्वयि भविष्यति तदाऽसाधारणधर्मं दृष्ट्वा प्रभुरपि स्वस्वामित्वासाधारणधर्मं सेवकज्ञानागोचरमपि सेवके करिष्यति । ननु हठदशायामपि मयि सेवकत्वस्य विद्यमानत्वात् स्वामिन्यपि

सहजस्वामित्वासाधारणधर्मस्य विद्यमानत्वात् कथं फलविलंब इति सन्देहनिवृत्त्यर्थं फलविलम्बहेतुं सेवकधर्म निरूपयन्ति, आज्ञेति । आज्ञा प्रश्वाज्ञा पूर्वं प्रथमतो गङ्गासागरसङ्गमे या जाता पश्चात् द्वितीया या आज्ञा मधुवने मथुरायां जाता तदाज्ञाद्वयमपि मया न कृतम् । ननु तदाज्ञाद्वयं किं विषयकं यत्र कृतं तत्राहुः, देहदेशपरित्याग इति । पूर्वाज्ञाया विषयो देहपरित्यागः । द्वितीयाज्ञाया विषयो देशपरित्यागः ।

आ प्रकारे श्रीआचार्यचरणो अंतःकरणे प्रमाणसहित अे समन्वयुंके हवे श्रीभागवतनुं विवरण संपूर्ण करवानो आग्रह राभवो उचित नथी. परंतु अेक संदेह अे रहे छे के कदाय पूर्व-आज्ञा ना समये जे आग्रह राप्यो હતો, તેનાથી જો પ્રભુ કુપિત થયા હશે તો મનવાંછિત ફળની સિદ્ધિ કેવી રીતે થશે? આ પ્રકારના સંદિગ્ધ મનને આપશ્રી સેવકસ્ય તુ વગેરે શબ્દોથી પ્રબોધન કરી રહ્યા છે.

શ્રીઆચાર્યચરણો અંતઃકરણને સમન્વયે છે કે, મેં પૂર્વશ્લોકમાં જે કહ્યું તેના અનુસાર જો તારામાં સ્વાભાવિકરૂપે સેવકનો અસાધારણ ધર્મ હશે તો તારા આ અસાધારણ ધર્મને જોઈને પ્રભુ પણ સ્વાભાવિકરૂપથી પોતાના અસાધારણ સ્વામિધર્મને સેવકની સામે પ્રકટ કરશે, ભલે ને તે પ્રભુના આ સ્વરૂપથી અજાણ હોય. પરંતુ અહીં આપશ્રીને એક સંદેહ અે થાય છે કે જ્યારે મેં હઠ કરી હતી, ત્યારે પણ હું સેવક જ હતો અને મારા સ્વામિનો મારા તરફ સ્વામિત્વનો અસાધારણ ધર્મ પણ હતો જ, તો પછી ભગવાન મને ફળદાનમાં વિલંબ કેમ કરશે? શું ત્યારે સેવક-સ્વામિનો હવાલો નહીં આપી શકાય ? આ સંદેહને નિવૃત્ત કરવા માટે આગળના શ્લોકમાં આપશ્રી એમ બતાવી રહ્યા છે કે પ્રભુ ફળદાનમાં વિલંબ કેમ કરી શકે છે અને એની જ સાથે આપશ્રી સેવકધર્મ શું છે, એ પણ બતાવી રહ્યા છે. આજ્ઞા વગેરે શબ્દોથી શ્રીઆચાર્યચરણો એમ કહી રહ્યા છે કે, સર્વપ્રથમ જે પ્રભુ-આજ્ઞા ગંગાસાગરસંગમ પર થઈ અને તે પછી ફરી બીજી આજ્ઞા મેં ન માની. તે બંને આજ્ઞાઓ કયા વિષયોમાં થઈ હતી જે મેં ન માની, આ તેઓ દેહદેશપરિત્યાગ: વગેરે શબ્દોથી કહી રહ્યા છે એટલે પહેલી આજ્ઞા દેહપરિત્યાગ માટે હતી અને બીજી આજ્ઞા દેશપરિત્યાગ માટે.

इस प्रकार आचार्यचरणों ने अपने अन्तःकरण को प्रमाणसहित यह समझाया कि अब श्रीभागवत का विवरण संपूर्ण करने का आग्रह रखना उचित नहीं है । परंतु एक संदेह यह रहता है कि कदाचित् पूर्वआज्ञा के समय जो भागवतविवृति पूर्ण करने का आग्रह रखा था, उससे यदि प्रभु कुपित हुए होंगे तो मनोवांछित फल की सिद्धि कैसे होगी ? इस प्रकार के संदिग्ध मन का आपश्री सैवकस्य तु इत्यादि शब्दों से प्रबोधन कर रहे हैं ।

आचार्यचरण अन्तःकरण को समझाते हैं कि, मैंने पूर्वश्लोक में जो कहा, उसके अनुसार यदि तुममें स्वाभाविकरूप से सेवक का असाधारण-धर्म होगा तो तुम्हारे इस असाधारण-धर्म को देखकर प्रभु भी अपने असाधारण-स्वामिधर्म को सेवक के प्रति प्रकट करेंगे, भले ही फिर वह प्रभु के इस स्वरूप से अनभिज्ञ हो । परंतु यहाँ आपश्री को एक संदेह यह होता है कि जब मैंने हठ किया था; तब भी तो मैं सेवक ही था और मेरे स्वामी का मेरे प्रति स्वामित्व का असाधारण-धर्म भी तो था ही, तो फिर भगवान मुझे फलदान में क्यों विलंब करेंगे ? क्या तब सेवक-स्वामी का हवाला नहीं दिया जा सकेगा ?? इस संदेह को निवृत्त करने के लिए आगे के श्लोक में आपश्री यह बता रहे हैं कि प्रभु फलदान में विलंब क्यों कर सकते हैं और इसी के साथ आपश्री सैवकधर्म क्या है, यह भी बता रहे हैं । आज्ञा इत्यादि शब्दों से आचार्यचरण यह कह रहे हैं कि, सर्वप्रथम जो प्रभु-आज्ञा गंगासागरसंगम पर हुई और इसके पश्चात् फिर दूसरी आज्ञा मधुवने अर्थात् मथुरा में हुई, वह दोनों आज्ञाएँ मैंने नहीं मानी । वह दोनों आज्ञाएँ किन विषयों में हुई थी जो मैंने नहीं मानी-यह वे देहदेशपरित्याग: इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं । अर्थात् पहली आज्ञा देहपरित्याग के लिए थी और दूसरी आज्ञा देशपरित्याग के लिए ।

ननु बलात्कारेण देहपरित्यागस्य दोषरूपत्वात् कथं तदाज्ञासम्भवः । तदकरणे च कथं दोषसम्भव इति चेत्सत्यं, कर्माधीनदेहे प्रारब्धभोगसमाप्तिव्यतिरेकेण बलात्कारेण देहत्याग एव दोषसम्भवः । यत्र केवलं भगवदिच्छाधीनावेव देहग्रहणपरित्यागौ तद्देहस्यालौकिकत्वात्तदाज्ञया परित्यागो न दोषायेति ज्ञात्वापि यत्तदकरणं तस्याज्ञोल्लङ्घनहेतुत्वात् प्रतिबन्धकत्वमित्युक्तम् । देशपरित्यागः स्पष्टः । एवमाज्ञाद्वयाकरणेऽनिष्टहेतुत्वं ज्ञात्वा तृतीयाज्ञा कृतेत्याहुः, तृतीयो लोकगोचर इति । तृतीयः परित्यागः लोकप्रसिद्धस्मृत्यादिशास्त्रेषु गोचरो विषयः संन्यासग्रहणपूर्वकं गृहपरित्यागः स कृतः । यद्यप्यत्र कृत इति शब्दो नास्ति तथापि पूर्वाज्ञाद्वयकरणनिषेधादत्र च कृत इति शब्दाभावेपि करणमायाति । यद्यपि पूर्वोक्ताज्ञाद्वयाकरणापराधः सम्भवति, तथापि तृतीयाज्ञाकरणेन तयोरप्याज्ञयोः करणं जातमिति नापराधः ।

परंतु अહીં પ્રશ્ન અે છે કે, બળપૂર્વક દેહનો ત્યાગ કરી દેવો તો દોષ છે, તો તે આજ્ઞાનું પાલન કેવી રીતે સંભવ છે? અને જો આ

आज्ञाने न मानिये तो ते न मानवाने दोषरूप केवी रीते कही शक्य छे? जे आ प्रश्न थतो होय तो तमारुं कहेवुं सत्य छे पण अर्ही अे समझे के ज्यारे देह कर्मोने आधीन होय अने प्रारब्धभोग पूर्ण कर्या वगर जे ळणपूर्वक देहत्याग करीअे, तो ळ दोष थाय छे. परंतु ज्ययां भगवद्-ईच्छा ने आधीन रहीने ळ शरीर धारण करवुं अने देहनो त्याग करवानो होय तो ते देह अलौकिक छे अने अलौकिक होवाने कारणे भगवद्-आज्ञानुसार ते देहनो परित्याग करी देवो दोष नथी. अने आ ळधुं ळणया छतां पण देहत्याग न करवो भगवद्-आज्ञानुं उल्लंघन करवुं छे, जे प्रतिबंधक छे. देशनो परित्याग तो स्पष्ट ळ छे. आ प्रकारे आ ळने आज्ञाओने न मानवी अनिष्टनुं कारण अनशे-अेम ळणीने श्रीआचार्यचरणोअे भगवाननी त्रीण आज्ञा मान्य करी लीधी. आने तेओ तृतीयो लोकगोचरः वगेरे शब्दोथी कही रह्या छे. आपश्री आज्ञा करे छे के त्रीजे परित्याग जे लोक प्रसिद्ध छे, स्मृति आदि शास्त्रोमां कहेलो छे अेटले गृहत्याग कर्या पछी संन्यासग्रहण करवो; ते परित्याग में कर्यो. जे के अर्ही “त्रीजे परित्याग कर्या” आ प्रकारे ‘कर्यो’ शब्द तो नथी तेम छतां पण श्रीआचार्यचरणोअे जे पहेलांनो जे परित्याग न कर्या, तेनाथी अे आपोआप समजय छे के हवे आपश्री अे त्रीजे परित्याग कर्यो अने अे पण समझे के, जे के पहेली जे आज्ञाओनुं उल्लंघन करवाथी अपराध तो थयो ळ छे परंतु त्रीण आज्ञानुं पालन करी लेवाथी ते ळने आज्ञाओनुं पण पालन करवुं थई ळ गयुं तेथी अर्ही कोई पण अपराध थयो नथी, अेम समजवुं जेईअे.

परंतु यहाँ प्रश्न यह है कि, बलपूर्वक देह का त्याग कर देना तो दोष है, तो उस आज्ञा का पालन कैसे संभव है ? और यदि इस आज्ञा को न मानें तब इसे दोषरूप कैसे कहा जा सकता है ? यदि यह प्रश्न होता हो तो आपका कहा सत्य है परंतु यहाँ यह समझिए कि जब देह कर्मों वे अधीन हो और प्रारब्ध-भोग पूर्ण किए बिना यदि बलपूर्वक देहत्याग करें, तब ही दोष होता है । किंतु जहाँ भगवद्-इच्छा के अधीन होकर ही देहग्रहण करना एवं देहपरित्याग करना हो तो वह देह अलौकिक है और अलौकिक होने के कारण भगवद्-आज्ञानुसार उस देह का परित्याग कर देना दोष नहीं है । और यह सबकुछ जानते हुए भी देहत्याग न करना भगवद्-आज्ञा का उल्लंघन करना है, जो प्रतिबंधक है । देश का परित्याग तो स्पष्ट ही है । इस प्रकार यह दोनों आज्ञाएँ न मानना अनिष्ट का कारण बनेगा-यह जानकर आचार्यचरणों ने भगवान की तीसरी आज्ञा मान्य कर ली । इसे वे तृतीयो लोकगोचरः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं । आपश्री आज्ञा करते हैं कि तीसरा परित्याग जो लोकप्रसिद्ध है, स्मृति आदि शास्त्रों में कहा गया है अर्थात् गृहत्याग करने के पश्चात् संन्यासग्रहण करना, वह परित्याग मैंने किया । यद्यपि यहाँ पर ‘तीसरा परित्याग किया’ इस प्रकार से ‘किया’ शब्द तो नहीं है परंतु फिर भी आचार्यचरणों ने जो पूर्व के दो परित्याग नहीं किए, उससे यह अपनेआप समझ में आ जाता है अब आपश्री ने तीसरा परित्याग किया । और यह भी समझिए कि यद्यपि पूर्व में दो आज्ञाओं का उल्लंघन करने से अपराध तो हुआ ही है परंतु तीसरी आज्ञा का पालन कर लेने से उन दोनों आज्ञाओं का भी पालन करना हो ही गया अतः यहाँ कोई भी अपराध नहीं हुआ है, यह समझना चाहिए ।

तथापि, आज्ञोल्लङ्घनजनितापराधेन यदि फलविलम्बं कुर्यात् प्रभुस्तदा तज्जनितः पश्चात्तापो भवत्येवेति कथमपराधनिवृत्तिरितिसन्देहे समाधानमाहुः, पश्चात्ताप इति

पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोहं न चान्यथा ।

लौकिकप्रभुवत्कृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन ॥ ७ ॥

फलविलम्बेपि विलम्बस्य दण्डस्थानीयत्वात्सेवकेन पश्चात्तापो न कर्त्तव्यः । तत्र हेतुः, सेवकोहमिति । अहं सेवकः सेवाकरणयोग्यः । आज्ञाद्वयाकरणस्य सेवाप्रतिबन्धकत्वं ज्ञात्वा शीघ्रं सेवार्थं विलम्बजतापेन शिक्षामिव प्रतिबन्धनिवृत्तिं विधाय पुनः सेवार्थमेव विलम्बं न कृतवान् इति न मम पश्चात्तापः । यतोह सेवकः, न चान्यथा । यदि मयि सेवकत्वं न मन्येत तदापराधेनोपेक्षामेव कुर्यात्, न तु स्वीयत्वं ज्ञात्वा विलम्बजतापरूपशिक्षां कुर्यादित्यत उक्तं, न चान्यथिति, अस्मिन्नर्थेन्यथाभावो नास्तीत्यर्थः ।

छतां पण, भगवद्-आज्ञानुं उल्लंघन तो थयुं ळ छे अने जे आ अपराधने कारणे प्रभु हवे इणदानमां विलंब करे तो हृदयमां पश्चात्ताप तो थरे ळ के में पहेलांज भगवदाज्ञा माथे केम न थढावी लीधी ? आ समस्त वातोनीो विचार करीने श्रीआचार्यचरणो आ भगवद्-अपराधनी निवृत्ति माटे पश्चात्तापः वगेरे शब्दोथी समाधान करी रह्या छे.

श्रीआचार्यचरणो अर्ही आज्ञा करे छे के, भगवद्-आज्ञानुं उल्लंघन करवाथी इणदानमां विलंब भले थई जय छतां पण आ विलंब हटावी नथी शक्यतो तेथी आ विलंब ळ आ अपराधनो हंस छे तेथी सेवके पश्चात्ताप न करवो जेईअे अने युपयाप आ हंसने सहन करी लेवो जेईअे. आ ळ वातने आगण तेओ सेवकोहं वगेरे शब्दोथी कही रह्या छे. तेओ कहे छे के, हुं तो भगवाननो सेवक

છું, એનાથી વધારે એક સેવકનો કોઈ અધિકાર નથી. મેં એ પણ જાણી લીધું કે પહેલાં જે બે ભગવદ્-આજ્ઞાઓનું ઉદ્ધંધન કર્યું છે તેનાથી મારી ભગવદ્-સેવામાં પ્રતિબંધ થયો છે તેથી મારા ફળદાનમાં થયેલા વિલંબને એક બોધપાઠ ની જેમ સમજી આ પ્રતિબંધની નિવૃત્તિ માટે હવે મેં ત્રીજી ભગવદ્-આજ્ઞા માની લીધી છે અને ભગવદ્-સેવાને માટે જ તો આ ત્રીજી આજ્ઞાનું પાલન કરવામાં વિલંબ નથી કર્યો તેથી મારે પશ્ચાતાપ ન કરવો જોઈએ. કેમકે હું તો એમનો સેવક જ છું. જો તેઓ મને પોતાનો સેવક ન માનતા તો મારા આ અપરાધને કારણે મારી ઉપેક્ષા જ કરી દેતા. પોતાનો સ્વીય જાણીને આ પ્રકારે ફળદાનમાં વિલંબ કરાવીને અને તે પ્રકારે પશ્ચાતાપ કરાવીને મને પાઠ કેમ શીખવાડતા ? તેથી મારી આવી પરિસ્થિતિમાં પોતાના મનમાં કોઈ અન્યથા ભાવ ન લાવવો જોઈએ, આ અર્થ છે.

છતાં પણ, ભગવદ્-આજ્ઞાનું ઉદ્ધંધન તો થયું જ છે અને જો આ અપરાધને કારણે પ્રભુ હવે ફળદાનમાં વિલંબ કરે તો હૃદયમાં પશ્ચાતાપ તો થશે જ કે મેં પહેલાંજ ભગવદ્-આજ્ઞા માથે કેમ ન ચઢાવી લીધી ? આ સમસ્ત વાતોનો વિચાર કરીને શ્રીઆચાર્યચરણો આ ભગવદ્-અપરાધની નિવૃત્તિ માટે પશ્ચાતાપ: વગેરે શબ્દોથી સમાધાન કરી રહ્યા છે.

શ્રીઆચાર્યચરણો અહીં આજ્ઞા કરે છે કે, ભગવદ્-આજ્ઞાનું ઉદ્ધંધન કરવાથી ફળદાનમાં વિલંબ ભલે થઈ જાય છતાં પણ આ વિલંબ હટાવી નથી શકાતો તેથી આ વિલંબ જ આ અપરાધનો દંડ છે તેથી સેવકે પશ્ચાતાપ ન કરવો જોઈએ અને યુપચાપ આ દંડને સહન કરી લેવો જોઈએ. આ જ વાતને આગળ તેઓ સેવકોહં વગેરે શબ્દોથી કહી રહ્યા છે. તેઓ કહે છે કે, હું તો ભગવાનનો સેવક છું, એનાથી વધારે એક સેવકનો કોઈ અધિકાર નથી. મેં એ પણ જાણી લીધું કે પહેલાં જે બે ભગવદ્-આજ્ઞાઓનું ઉદ્ધંધન કર્યું છે તેનાથી મારી ભગવદ્-સેવામાં પ્રતિબંધ થયો છે તેથી મારા ફળદાનમાં થયેલા વિલંબને એક બોધપાઠ ની જેમ સમજી આ પ્રતિબંધની નિવૃત્તિ માટે હવે મેં ત્રીજી ભગવદ્-આજ્ઞા માની લીધી છે અને ભગવદ્-સેવાને માટે જ તો આ ત્રીજી આજ્ઞાનું પાલન કરવામાં વિલંબ નથી કર્યો તેથી મારે પશ્ચાતાપ ન કરવો જોઈએ. કેમકે હું તો એમનો સેવક જ છું. જો તેઓ મને પોતાનો સેવક ન માનતા તો મારા આ અપરાધને કારણે મારી ઉપેક્ષા જ કરી દેતા. પોતાનો સ્વીય જાણીને આ પ્રકારે ફળદાનમાં વિલંબ કરાવીને અને તે પ્રકારે પશ્ચાતાપ કરાવીને મને પાઠ કેમ શીખવાડતા ? તેથી મારી આવી પરિસ્થિતિમાં પોતાના મનમાં કોઈ અન્યથા ભાવ ન લાવવો જોઈએ, આ અર્થ છે.

નનુ યથા લોકે “રાજા મિત્રં કેન દૃષ્ટં શ્રુતં વે” તિ લૌકિકપ્રભુન્યાયેન તાપાનન્તરમપ્યુપેક્ષામેવ કુર્યાદિતિ ચેત્તત્ર બાધકમાહુઃ, લૌકિકપ્રભુવદિતિ । લૌકિકાઃ પ્રાકૃતા જીવાઃ પ્રભવો લોકે પ્રભુત્વેન વ્યવહાર્યાઃ, તદ્વદ્વગવાન્ન દ્રષ્ટવ્યઃ ન જ્ઞાતવ્યઃ । તત્ર હેતુઃ, યતઃ કૃષ્ણઃ ફલાત્મા પ્રભુશ્ચ । લૌકિકપ્રભૂનાં પ્રાકૃતત્વાત્તેષામઙ્ગીકારસ્યાનિત્યત્વાદઙ્ગીકૃતસ્યાપ્યુપેક્ષા સમ્ભવતિ, પ્રકૃતે પ્રભોરલૌકિકત્વેન તદઙ્ગીકારસ્યાપિ નિત્યત્વેન અઙ્ગીકૃતોપેક્ષૈવાસમ્ભાવિતેતિ જ્ઞાપનાયોક્તં, ન દ્રષ્ટવ્યઃ કદાચનતિ । અત એવ પિતૃચરણૌરુક્તં “અઙ્ગીકૃતજનજનિતાપરાધકૂટક્ષમાવિનોદોસ્ય । અઙ્ગીકૃતિશ્ચ નિત્યા વદન્તુ કોન્યોસ્ય સામ્યમિયા”ત્તેનાઙ્ગીકારસ્ય નિત્યત્વે ન સન્દેહઃ । કદાચનતિ ભૂતભવિષ્યદ્વર્તમાનકાલેપીત્યર્થઃ ॥ ૭ ॥

પરંતુ અહીં શ્રીઆચાર્યચરણોના મનમાં એક બીજો પ્રશ્ન ઉપસ્થિત થઈ રહ્યો છે. તેઓ આજ્ઞા કરે છે કે ભલે ને મારા મનમાં વિરહતાપ હોય છતાં પણ “રાજા મિત્રં..” શ્લોક ને અનુસાર જો પ્રભુ કોઈ લૌકિક સ્વામીની જેમ છતાં પણ મારી ઉપેક્ષા જ કરી દે તો શું થશે ? જો આવું થયું તો મારી ફળપ્રાપ્તિમાં બાધા આવશે. તેથી તેઓ આગળ લૌકિક પ્રભુવત્ ઈત્યાદિ શબ્દોથી શંકાનું સમાધાન કરી રહ્યા છે. આપશ્રી અહીં આજ્ઞા કરે છે કે જે સ્વામી લૌકિક હોય છે અને પ્રાકૃત હોય છે, તેમના માટે તો આવું વિચારી શકાય છે કે તેઓ આપણી ઉપેક્ષા કરી શકે છે. પરંતુ ભગવાનને લૌકિક-સ્વામીની દ્રષ્ટિએ ન જોવા જોઈએ, અને ન તો સમજવા જોઈએ-આ જાણી લેવું જોઈએ કેમકે ભગવાન ‘શ્રીકૃષ્ણ’ તો ફલાત્મા છે અને આપણા પ્રભુ પણ છે. લૌકિક સ્વામી તો પ્રાકૃત હોય છે અને જેમને શરણ આપ્યું છે અને સ્વીકાર કર્યો છે તેમની ઉપેક્ષા કરી શકે છે પરંતુ અહીં તો પરિસ્થિતિ બીજી છે. અહીં તો આપણા પ્રભુ બધી રીતે અલૌકિક છે અને જ્યારે તેઓ એક વાર કોઈની શરણાગતિ ને સ્વીકાર કરી લે છે તો તેને પછી ક્યારેય નથી છોડતા, તેથી તેઓ અંગીકૃતજીવોની ઉપેક્ષા કરે, તે સંભવ નથી. આ જ વાતને શ્રીઆચાર્યચરણોએ ન દ્રષ્ટવ્યઃ કદાચન વગેરે શબ્દોથી કહી છે. જેનો અર્થ થાય છે કે ભગવાન શ્રીકૃષ્ણને કોઈ લૌકિક સ્વામીની દ્રષ્ટિથી ન જોવા જોઈએ. આ જ કારણે મારા પિતૃચરણો (શ્રીગુસાંઈજી)એ પણ પોતાના પત્રમાં કહ્યું છે કે “ભગવાન પોતાના અંગીકૃતજીવોના કરોડો અપરાધો તો કેવળ હાસ્ય વિનોદ માં જ ક્ષમા કરી દે છે.

तेओ ज्यारे कोईनो अंगीकार करे छे तो सदाय माटे करे छे, तेथी तमेज कडो के आपणा प्रभुनी समान कोए होई शके? (वि.८/८) तेथी भगवान पोताना अंगीकृतज्योने सदाय माटे स्वीकार करे छे, तेमां कोई पण प्रकारनो संदेह नथी. श्रीआचार्यचरणोअे अही कदाचन शब्दनो प्रयोग कर्यो छे, जेनो अर्थ थाय छे “क्यारेय पण” अेटले भगवान पोताना अंगीकृतज्योनी क्यारेय उपेक्षा नथी करता, न भूतकालमां, न भविष्यकालमां, न वर्तमानकालमां—आ अर्थ छे.

परंतु यहाँ आचार्यचरणों के मन में एक और प्रश्न उपस्थित हो रहा है। वे आज्ञा करते हैं कि भले ही मेरे मन में विरह-ताप होता हो तथापि “राजा मित्रं ” श्लोक के अनुसार यदि प्रभु किसी लौकिक स्वामी की तरह फिर भी मेरी उपेक्षा ही कर दें तो क्या होगा ? यदि ऐसा हुआ तब तो मेरी फलप्राप्ति में बाधा आ जायेगी। अतः वे आगे लौकिक प्रभुवत् इत्यादि शब्दों से स्वयं का समाधान कर रहे हैं। आपश्री यहाँ आज्ञा करते हैं कि जो स्वामी लौकिक होते हैं एवं प्राकृत होते हैं, उनके बारे में तो ऐसा सोचा जा सकता है कि वे हमारी उपेक्षा कर सकते हैं परंतु भगवान को लौकिक-स्वामी की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए और न ही समझना चाहिए, यह जान लेना चाहिए। क्योंकि भगवान श्रीकृष्ण तो फलात्मा हैं एवं हमारे प्रभु भी हैं। लौकिक-स्वामी तो प्राकृत होते हैं और जिसको शरण दी है और स्वीकार किया है उसकी उपेक्षा कर सकते हैं परंतु यहाँ तो परिस्थिति दूसरी है। यहाँ तो हमारे प्रभु सर्वथा अलौकिक हैं और जब वे एक बार किसी की शरणागति स्वीकार कर लेते हैं तो उसे फिर कभी भी नहीं छोड़ते अतः वे अंगीकृत-जीवों की उपेक्षा करें, यह संभव नहीं है। इसी बात को आचार्यचरणों ने न द्रष्टव्यः कदाचन इत्यादि शब्दों से कहा है जिसका अर्थ होता है-भगवान श्रीकृष्ण को किसी लौकिक-स्वामी की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। इसी कारण मेरे पितृचरणों (श्रीगुसाईजी) ने भी अपने पत्र में कहा है कि - भगवान अपने अंगीकृत जीवों के करोड़ों अपराध तो केवल हास्य-विनोद में ही क्षमा कर देते हैं। वे जब किसी को अंगीकार करते हैं तो सदा के लिए करते हैं अतः तुम ही कहो कि हमारे प्रभु के सामान कौन हो सकता है ? (वि०८/८)। सो भगवान अपने अंगीकृत जीवों को सदा के लिए स्वीकार करते हैं इसमें किसी भी प्रकार का संदेह नहीं है। आचार्यचरणों ने यहाँ कदाचन शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ होता है ‘कभी भी’ अर्थात् भगवान अपने अंगीकृत जीवों की कभी भी उपेक्षा नहीं करते, न भूतकाल में, न भविष्यकाल में, न वर्तमानकाल में, यह अर्थ है ॥७॥

यद्यप्युपेक्षां न करिष्यति, तथापि, अपराधस्य जातत्वात्पुनः पूर्ववत्तादृशीं कृपां न करिष्यतीति मनःसन्देहनिवृत्त्यर्थमाहुः, सर्व समर्पितमिति ।

सर्व समर्पितं भक्त्या कृतार्थोसि सुखी भव ।

त्वयि पूर्वं कृपासीदेव, यतस्त्वया सर्वमेव समर्पितं, तत्रापि भक्त्या भक्तिमार्गानुसारेण, न तु विहितत्वाद्युपाधिना, तस्मात्त्वं फलरूपभक्तिमार्गाङ्गीकरणे कृतार्थ एवासि । मध्ये प्रौढ्याज्ञोल्लङ्घनजनितापराधेन अन्तराये सति क्लेशं प्राप्तवानसि । अतस्तमाग्रहं परित्यज्य प्रभवाज्ञां कृत्वा पुनः पूर्ववदेव सुखीभव यथापूर्वं सुखं प्राप्नुहि ।

हवे श्रीआचार्यचरणोने अही ओक संदेह अेवो थई रह्यो छे के अे वात तो साथी छे के भगवान पोताना अंगीकृतज्योनी उपेक्षा नहीं करे परंतु भगवद्-आज्ञा न मानवानो अपराध तो थयो ज छे, तो शुं प्पर तेओ हवे पहेला जेवी कृपा बनावी राप्शे के नहीं ? आ प्रकारना संदेहनी निवृत्ति माटे तेओ आगण सर्व समर्पितं वगेरे शब्दोथी समाधान करी रह्या छे.

उपरना श्लोक द्वारा श्रीआचार्यचरणो पोताना अंतःकरणे समनवी रह्या छे के चिंता केम करी रह्यो छे के मके तारा पर पहेलां तो कृपा हती ज के मके ते तो भगवानने बंधुं ज समर्पित करी ज दीधुं छे अने अे पण भक्तिसहित अने भक्तिमार्गना अनुसार ज समर्पित कर्युं छे, मर्यादाभारगीनी कोई विधिपूर्वक नहीं; तेथी इणइपभक्तिमार्गमां अंगीकार थयो होवाने कारणे तुं कृतार्थ ज छे अने, वयमां ते प्रौढभावने वशीभूत थई भगवाननी आज्ञानुं उल्लंघन करी दीधुं हतुं जे कारणे तारे प्रभुनो अंतराय सहन करवो पडयो अने तेनाथी तने प्रभुने माटे ताप-क्लेश पण थयो. तेथी भगवद्-आज्ञा नो भंग करवाना आग्रहने छोडीने प्रभु-आज्ञा शिरोधार्य कर अने पहेलांनी जेम ज सुभी थई ज. अेटले पहेलांनी जेम प्रभु-मिलनना सुभने प्राप्त करी ले. आ प्रकारे श्रीआचार्यचरणो पोताना अंतःकरणे समनवी रह्या छे.

अब आचार्यचरणों को यहाँ एक संदेह यह हो रहा है कि, यह बात तो ठीक है कि भगवान अपने अंगीकृत-जीवों की उपेक्षा नहीं करेंगे परंतु भगवद्-आज्ञा न मानने का अपराध तो हुआ ही है अतः क्या पता अब वे पहले जैसी कृपा बनाए रखेंगे कि नहीं ? इस प्रकार के संदेह की निवृत्ति के लिए वे आगे सर्व समर्पित इत्यादि शब्दों से समाधान कर रहे हैं।

उपर्युक्त श्लोक के द्वारा आचार्यचरण अपने अन्तःकरण को समझा रहे हैं कि चिंता क्यों कर रहे हो ? क्योंकि तुम पर पहले तो कृपा थी

ही क्योंकि तुमने तो भगवान को सभी कुछ समर्पित कर ही दिया है और वह भी भक्तिसहित एवं भक्तिमार्ग के अनुसार ही समर्पित किया है, मर्यादामार्ग की विधिपूर्वक नहीं। अतः फलरूप-भक्तिमार्ग में अंगीकार हुए होने के कारण तुम कृतार्थ ही हो। और, बीच में तुमने प्रौढ़भाव के वशीभूत होकर भगवान की आज्ञा का उल्लंघन कर दिया था जिस कारण तुम्हें प्रभु का अंतराय (दूरी) सहन करना पड़ा और उससे तुम्हें प्रभु के लिए ताप-क्लेश भी हुआ। इस कारण भगवद्-आज्ञा भंग करने के आग्रह का त्याग करके प्रभु-आज्ञा शिरोधार्य करो एवं पहले की भाँति ही सुखी हो जाओ अर्थात् पहले की भाँति प्रभु-मिलन के सुख को प्राप्त कर लो। इस प्रकार से आचार्यचरण अपने अन्तःकरण को समझा रहे हैं।

ननु, अङ्गीकारस्य नित्यत्वात्फलमार्गीयं सुखं यद्यपि दास्यति तथापि पूर्ववत्सर्वात्मना दास्यति न वेति सन्देहजनितक्लेशमग्रिमदृष्टान्तेन दूरीकुर्वन्ति। प्रौढापीति।

प्रौढापि दुहिता यद्वत्स्नेहान्न प्रेष्यते वरे ॥ ८ ॥

तथा देहे न कर्तव्यं वरस्तुष्यति नान्यथा।

फले प्रभुः तारतम्यं तदा कुर्याद्यदि त्वदपेक्षा न स्यात्, यस्यापेक्षावश्यकी तस्य दोषमप्यनङ्गीकृत्य फलं ददात्येव। पूर्वोक्तं दृष्टान्तमेव विवृण्वन्ति। यथा प्रौढा रमणयोग्या स्वकीया दुहिता तस्यां स्नेहाधिक्यात् तस्या वरे भोक्तरि भोगावश्यकदशासमये यदि न प्रेष्यते तदा वरः स्वाभिलाषाया अपूर्त्याऽसन्तुष्टो भवति। प्रेष्यते चेत्सन्तुष्ट एव भवति। अपि शब्देन यद्यपि पाणिग्रहणमारभ्यैव तस्य भोगेच्छास्त्येव, तथापि तस्यां स्वोपमर्दासहिष्णुत्वेन विलम्बमपि सहते। सहिष्णुत्वदशायां विलम्बकर्त्तरि असन्तुष्ट एव भवति। तथा प्रभोः सर्वात्मना स्वापेक्षासमये यदि अपेक्षां ज्ञात्वा कार्यसंपत्तिर्न क्रियते तदा प्रभुरसन्तुष्ट एव भवति।

अर्ही श्रीआचार्यचरणोने ऐक संदेह ऐ पण थाय छे के, प्रभु द्वारा अंगीकार करवानुं तो क्यारेय तुटे नहीं अने प्रभु इलमार्गीय सुख पण न्ने के आपसे परंतु पहलेलांनी जेम बधी रीते आपसे के नहीं ? आ प्रकारना संदेहथी उत्पन्न थयेल क्लेशने आपश्री आगणनी पंक्तिओमां आववावाणा प्रौढापि शब्दोथी दूर करी रह्या छे.

अर्ही श्रीआचार्यचरणो पोताना अंतःकरणने ऐम समजवी रह्या छे के, इणदान करवामां प्रभु आनाकानी तो त्यारे करशे ज्यारे ऐमने तमारी अपेक्षा नहीं होय. परंतु ऐमने जेनी अपेक्षा जरूरी हशे, तेना तो दोषोने पण न जेया करीने इण आपसे ज. आ पक्षने समजववा माटे श्रीआचार्यचरणो पहलेलां आपेला दृष्टान्तनो ज आगण विस्तार करी रह्या छे. आपश्रीनुं तात्पर्य ऐ छे के जे प्रकारे पोतानी विवाहयोग्य पुत्रीने स्नेहवश तेना पतिनी पासे योग्य समय पर न भोकलाय तो तेनो पति पोतानी अभिलाषा पूर्ण न थवाने कारणे असंतुष्ट ज रही जय छे. जे योग्य समय पर भोकलवामां आवे तो संतुष्ट थई जय छे. श्रीआचार्यचरणोऐ अर्ही “अपि” (प्रौढा+अपि=प्रौढापि) शब्दनो प्रयोग क्यो छे, जेनाथी ऐ समजय छे के जे के विवाहना समयथीज पतिने पोतानी पत्नीने भणवानी ईच्छा तो रहे ज छे, परंतु ते जणो छे के इण ते पूर्णइपथी प्रौढ नथी थई तेथी तेने योग्य नथी. तेथी ते तेना विलंबने पण सहन करी ले छे. पण ज्यारे ते परिपक्व अने प्रौढ थई जय छे त्यारे तो ते ऐ व्यक्तित्थी असंतुष्टज रहे छे, जे तेना मिलनमां विलंब करावे छे. (अर्ही टीकाकारे “अपि”शब्दनी वात करी छे, तेने समजे. “प्रौढापि”शब्दनो अर्थ थाय छे “प्रौढा पण”ऐटले ज्यारे कन्या प्रौढ नथी होती त्यारे पण तेना पतिने तेनी आहना रहे ज छे तो हवे तो कन्या “प्रौढ”पण थई गई छे, तेथी जे हवे पण ऐने न वणाववामां आवे तो तेनो पति अप्रसन्न तो रहेशे ज-आ अर्थ छे. आ दृष्टान्तथी टीकाकार ऐ समजववा मागे छे के श्रीआचार्यचरणो आ दृष्टान्त द्वारा ऐ बताववा मागे छे के, आ ज रीते प्रभुने पण पोताना भक्तोने भणवानी ईच्छा सदाय रहे छे ज अने तेओ जयां स्वयं आशा करीने ओलावी रह्या छे, त्यारे अप्रसन्न थशे, आ अर्थ छे.) ते ज रीते ज्यारे प्रभुनी बधी ज रीते आपणने भणवानी ईच्छा होय अने आपणो ऐमनी ईच्छाने जणोने पण ते प्रमाणे न करीऐ तो प्रभु आपणोथी असंतुष्ट ज रहेशे.

यहाँ आचार्यचरणों को एक संदेह यह भी होता है कि; प्रभु द्वारा अंगीकार किया जाना तो कभी भंग नहीं होगा और प्रभु फलमार्गीय-सुख भी यद्यपि देंगे परंतु पहले की भाँति सभी प्रकार से देंगे या नहीं ? इस प्रकार के संदेह से उत्पन्न हुए क्लेश को आपश्री आगे की पंक्तियों में आने वाले प्रौढापि इत्यादि शब्दों से दूर कर रहे हैं।

यहाँ आचार्यचरण अपने अन्तःकरण को यह समझा रहे हैं कि फलदान करने में प्रभु आनाकानी तो तब करेंगे, जब उन्हें तुम्हारी अपेक्षा नहीं होगी परंतु उन्हें जिसकी अपेक्षा आवश्यक होगी, उसके तो दोषों को भी अनदेखा करके फल देंगे ही। इस पक्ष को समझाने के लिए आचार्यचरण पूर्व में दिए गये दृष्टान्त का ही आगे विस्तार कर रहे हैं। आपश्री का तात्पर्य यह है कि, जिस प्रकार अपनी विवाहयोग्य पुत्री को स्नेहवश उसके

पति के पास उचित समय पर न भेजा जाय तो उसका पति खुद की अभिलाषा पूर्ण न होने के कारण असंतुष्ट ही रह जाता है। यदि उचित समय पर भेज दी जाय तो संतुष्ट हो जाता है। आचार्यचरणों ने यहाँ 'अपि' (प्रौढ़+अपि= प्रौढ़ापि) शब्द का प्रयोग किया है, जिससे यह ज्ञात होता है कि यद्यपि विवाह के समय से ही पति को अपनी पत्नी से मिलने की इच्छा तो रहती ही है परंतु वह जानता है कि अभी वह पूर्णरूप से प्रौढ़ नहीं हुई है अतः उसके योग्य नहीं है, सो वह उनके विलंब को भी सहन कर लेता है परंतु जब वह परिपक्व एवं प्रौढ़ हो जाती है तब तो वह उस व्यक्ति से असंतुष्ट ही रहता है जो उसके मिलन में विलंब करा रहा है। (यहाँ टीकाकार ने 'अपि' शब्द की बात कही है, उसे समझें। 'प्रौढ़ापि' शब्द का अर्थ होता है 'प्रौढ़ा भी' अर्थात् जब कन्या प्रौढ़ नहीं थी, तब भी उसके पति को उसकी चाहना रहती ही है तो अब तो कन्या प्रौढ़ भी हो गई है अतः यदि अब भी उसे न भेजा जाय, तो उसका पति अप्रसन्न तो रहेगा ही, यह अर्थ है। टीकाकार यह समझाना चाह रहे हैं कि, आचार्यचरण इस दृष्टांत द्वारा यह बताना चाह रहे हैं कि, इसी प्रकार प्रभु को भी अपने भक्तों से मिलने की इच्छा सदैव रहती ही है और जहाँ तो वे स्वयं आज्ञा करके बुला रहे हैं, तब तो जाना ही चाहिए यदि नहीं जायेंगे तो वे अप्रसन्न होंगे, यह अर्थ है।) उसी प्रकार से जब प्रभु को सभी प्रकार से हमसे मिलने की अपेक्षा हो एवं हम उनकी अपेक्षा को जानकर भी तदनुसार न करें तो प्रभु हमसे असंतुष्ट ही रहेंगे।

तस्मादयं विलम्बः प्रभोः स्वाभिलाषितसिद्ध्यभावहेतुक इति, विलम्बाभावे पूर्ववदेव सर्वात्मना स्वाभिलाषापूर्त्यर्थं फलं दास्यत्येवेत्यस्मिन्नर्थे विलम्बस्त्याज्य एवेत्यत उक्तम् । तथा देहे न कर्त्तव्यमिति । देहे देहत्यागविषये सर्वात्मना प्रभुसन्तोषाभावाद्विलम्बो न कार्यः । यथा दुहितृप्रेषणविलम्बे स्नेहो हेतुः । तन्निराकरणपूर्वकप्रेषणे वरसन्तोषेणोभयकार्यसिद्धिस्तथात्राप्याग्रहेहेतुत्यागपूर्वकमाज्ञाकरणेनोभयकार्यसिद्धिरिति सर्वात्मना प्रभुसन्तोषार्थं देहत्यागविलम्बहेतुर्हठस्त्याज्य एव ।

तेथी श्रीआचार्यचरणो कही रखा छे के ने लुं तेमने भणवामां विलंब करी रखो छुं तो आ विलंब प्रभु-ईच्छा पूरी करवामां बाधक छे, तेथी ने लुं विलंब नहीं करुं तो तेओ पहलेलांनी नेम न बधी रीते पोतानी अभिलाषा पूर्ण करवा माटे मने इणदान करशे न, तेथी आ विलंबने छोडी देवो न योग्य छे. तथा देहे न कर्त्तव्यं वगेरे शब्दोनो अर्थ अे छे के नेवी रीते प्रौढ़ पुत्रीने तेना पतिना धरे वणाववामां विलंब न करवो नेईअे, तेन रीते आ देहनो त्याग करवामां पण विलंब न करवो नेईअे केमके तेमां प्रभुने संतोष नहीं, तेमना सुभनो विचार नहीं. ने प्रकारे पुत्रीने भोकलवामां विलंब करवानुं कारण तेना प्रत्येनो स्नेह हतो, परंतु अेवो हठाग्रह न राभतां तेने तेना पतिनी पास भोकलवामां आवे तो पति पण प्रसन्न थई नय छे अने पुत्री पण सुभी थई नय छे. ते न प्रकारे अही श्रीआचार्यचरणो नेम कही रखा छे के देहत्याग न करवानो आग्रह छोडी प्रभु आज्ञा माथे यढावी लेवाथी अंने कार्यों सिद्ध थई नशे, प्रभु-आज्ञा शिरोधार्य करवी थई नशे अने प्रभुथी भणवुं पण थई नशे, तेथी प्रभु सुभ माटे आवा हठाग्रहने छोडी न देवो नेईअे.

इसीलिए आचार्यचरण कह रहे हैं कि यदि मैं उनसे मिलने में विलंब कर रहा हूँ तो यह विलंब प्रभु-इच्छा पूर्ण करने में बाधक है अतः विलंब नहीं करूँगा तो वे पहले की ही भाँति सभी प्रकार से अपनी अभिलाषा पूर्ण करने के लिए मुझे फलदान करेंगे ही, सो यहाँ विलंब का त्याग कर देना ही उचित है। तथा देहे न कर्त्तव्यः इत्यादि शब्दों का अर्थ यह है कि, जिस प्रकार प्रौढ़-पुत्री को उसके पति के पास भेजने में विलंब नहीं करना चाहिए, उसी प्रकार इस देह का त्याग करने में भी विलंब नहीं करना चाहिए क्योंकि इसमें प्रभु को संतोष नहीं है, उनके सुख का विचार नहीं है। जिस प्रकार पुत्री को भेजने में विलंब करने का कारण उसके प्रति स्नेह था परंतु ऐसा हठाग्रह न रखते हुए उसे उसके पति के पास भेज दिया जाय तो पति भी प्रसन्न हो जाता है और पुत्री भी सुखी हो जाती है। उसी प्रकार यहाँ भी आचार्यचरण यह कह रहे हैं कि देहत्याग न करने का आग्रह त्याग करके प्रभु-आज्ञा शिरोधार्य करने से दोनों कार्य सिद्ध हो जायेंगे, प्रभु-आज्ञा शिरोधार्य करनी भी हो जायेगी एवं प्रभु से मिलना भी हो जायेगा अतः प्रभु-सुख के लिए ऐसे हठाग्रह का त्याग ही कर देना चाहिए।

ननु यद्यप्यस्मिन्नर्थे हठोऽनुचिस्तथापि भगवदभिप्रेतश्रीभागवतार्थप्राकट्येन लोके परमोत्कर्षः सिद्ध्यतीति कदाचिद्यत्किञ्चिद्विलम्बेच्छा सम्भवति । तस्या अपि फलविलम्बहेतुत्वेन तां निराकुर्वन्ति, लोकवदिति ।

लोकवच्चेत्स्थितिर्मे स्यात्किं स्यादिति विचारय ॥ ९ ॥

यद्यपि भगवदभिप्रेतश्रीभागवतार्थप्राकट्येन जैमिनिव्यासादिवत् श्रुत्यविरुद्धालौकिकशास्त्रार्थप्राकट्येन लोक एवोत्कर्षः सिद्ध्यति । नत्वलौकिकस्वसिद्धान्तफलानुभवहेतूत्कर्षः सिद्ध्यति । लोकोत्कर्षसिद्धौ जैमिनिव्यासाद्युत्कर्षवल्लौकिक एवोत्कर्षः सेत्स्यति, न तु स्वमार्गीयोत्कर्षोपि ।

हवे श्रीआचार्यचरणोने पोताना अंतःकरणमां अेक प्रश्न अे थाय छे के, जे के आ परिस्थितिमां आवो हठाग्रह राखवो अनुचित तो छे न परंतु भगवद् आज्ञा तो श्रीमद्-भागवतनो गूढार्थ प्रकट करवानी पण थर्छ छे अने आ गूढार्थने प्रकट करवाथी लोकमां परमोत्कर्ष (प्रसिद्धि) पण मणशे, तेथी कदाय मनमां प्रभु-आज्ञाने माथे बढाववामां थोडो धारो विलंब करवानी छेच्छा पण नन्मी शके छे. परंतु अही श्रीआचार्यचरणो ते छेछाने पण मुख्य इणदानमां थती बाधा अतावीने ते छेछानुं निराकरण लोकवत् वगेरे शब्दोथी करी रह्या छे.

उपर्युक्त श्लोक द्वारा श्रीआचार्यचरणो अेम आज्ञा करी रह्या छे के, जे के श्रीमद्-भागवतनो गूढार्थ प्रकट करवा माटे थयेली भगवद्-आज्ञानुं पालन करीने श्रीभागवतार्थ प्रकट करवाथी जैमिनी, व्यासमुनिनी जेम श्रुतिनी विपरीत न जता, अलौकिक शास्त्रनो अर्थ प्रकट करवाथी आ लोकमां न पोतानो उत्कर्ष सिद्ध थवानो छे पण ते उत्कर्ष पोताना पुष्टिमार्गीय अलौकिक सिद्धांतना इलानुभवनुं कारण नथी अनी शकतो. जे लोकमां उत्कर्ष थशे तो जैमिनी, व्यासमुनि वगेरेनी जेम लौकिक उत्कर्ष न सिद्ध थवानो छे, स्वमार्गीय (पुष्टिमार्गीय) उत्कर्ष नही.

अब आचार्यचरणो को अपने अन्तःकरण में एक प्रश्न यह हो रहा है कि, यद्यपि इस परिस्थिति में ऐसा हठाग्रह रखना अनुचित तो है परंतु भगवद् आज्ञा तो श्रीमद्-भागवत का गूढार्थ प्रकट करने की भी हुई है और इस गूढार्थ को प्रकट करने से लोक में परमोत्कर्ष (प्रसिद्धि) भी मिलेगा अतः कदाचित् मन में प्रभु-आज्ञा को शिरोधार्य करने में थोड़ा-बहुत विलंब करने का इच्छा भी पनप सकती है। किंतु यहाँ आचार्यचरण उस इच्छा को भी मुख्य फलदान में होती बाधा बता कर उस इच्छा का निराकरण लोकवत् इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

उपर्युक्त श्लोक के द्वारा आचार्यचरण यह आज्ञा कर रहे हैं कि, यद्यपि भागवत का गूढार्थ प्रकट करने के लिए हुई भगवद्-आज्ञा का पालन करके भागवतार्थ प्रकट करने से जैमिनी, व्यासमुनि की भाँति श्रुति से विपरीत न जाते हुए अलौकिक शास्त्र का अर्थ प्रकट करने से इस लोक में ही खुद का उत्कर्ष सिद्ध होने वाला है परंतु वह उत्कर्ष अपने पुष्टिमार्गीय अलौकिक सिद्धांत के फलानुभव का कारण नहीं बन सकता। यदि लोक में उत्कर्ष होगा तो जैमिनी, व्यासमुनि इत्यादि की भाँति लौकिक-उत्कर्ष ही सिद्ध होने वाला है, स्वमार्गीय (पुष्टिमार्गीय) उत्कर्ष नहीं।

तस्मात्तदुत्कर्षासिद्धौ म मम स्वमार्गीयफलभोक्तुः पूर्वोत्कर्षफलविचारस्य स्वमार्गीयफलविलम्बहेतुत्वात्किं फलं स्यान्न किमपीत्यर्थः । स्वमार्गीयफलविचारे यत्र मुक्त्यादीनामपि निःफलत्वं तत्र पूर्वोक्तलौकिकस्यापि फलत्वगणना सर्वात्मना दूरापास्तेति ज्ञापनायोक्तम् , किं स्यादिति । अत एतत्फलतारतम्यविचारेण त्वयापि सर्वात्मना फलसिद्धिविलम्बाभाव एव विचारणीयो न त्वन्योपि विचारः कर्तव्य इति ज्ञापनायोक्तम् । विचारयति ॥९॥

तेथी श्रीआचार्यचरणो अही पोताना अंतःकरणने अेम संबोधित करी रह्या छे के, हुं तो पुष्टिमार्गीय इलभोग करवानी छेच्छा राभी रह्यो छुं, अने जे मने पुष्टिमार्गीयइण न प्राप्त न थयुं तो शुं इण प्राप्त थयुं ? केभके लोकमां उत्कर्ष प्राप्त करवानुं इण तो पुष्टिमार्गीयइणमां विलंबनुं कारण अनी रह्युं छे-आ अर्थ छे. पुष्टिमार्गीयइणनी वात करीअे तो अही तो मुक्ति वगेरे इण पण पुष्टिमार्गमां इण तरीके गणवामां आव्या नथी तो पछी लौकिक उत्कर्षने कोर्छ इणमां गणवुं तो दूरतर न छे; आ न कारणे श्रीआचार्यचरणोअे “मने क्युं इण मणतुं” अेम कह्युं छे. तेथी आपथ्री आज्ञा करी रह्या छे के, तारे पण आ लौकिक-अलौकिक अंने इणोनों विचार करीने अधा प्रकारे स्वमार्गीय इलसिद्धिमां विलंब न थाय, आ विचार करवो जेछेअे, अीजे नही. आन अताववा माटे आपथ्रीअे ‘विचारय’ शब्द प्रयुक्त क्यो छे अेटले “तुं विचार कर”

अतः आचार्यचरण यहाँ अपने अन्तःकरण को यह संबोधित कर रहे हैं कि, मैं तो पुष्टिमार्गीय-फलभोग करने की इच्छा रख रहा हूँ और यदि मुझे पुष्टिमार्गीय फल ही प्राप्त न हुआ तो क्या फल प्राप्त हुआ क्योंकि लोक में उत्कर्ष प्राप्त करने का फल तो पुष्टिमार्गीय फल में विलंब का हेतु बन रहा है, यह अर्थ है। पुष्टिमार्गीय फल की बात करें तो यहाँ तो मुक्ति-आदि फल भी पुष्टिमार्ग में फल नहीं गिना गया है, तो फिर लौकिक उत्कर्ष को किसी फल में गिनना तो दूरतर ही है, इस कारण आचार्यचरणों ने मुझे क्या फल प्राप्त होता? यह कहा है। सो आपथ्री आज्ञा कर रहे हैं कि, तुम्हें भी इन लौकिक-अलौकिक दोनों के फल का विचार करके सभी प्रकार से स्वमार्गीय फलसिद्धि में विलंब न हो, यह विचार करना चाहिए दूसरा नहीं। यही बताने के लिए आपथ्री ने विचारय पद प्रयुक्त किया है अर्थात् तुम विचार करो ॥ ९ ॥

यद्यपि फलविलम्बाभाव एव विचारणीयस्तथापि बलात्कारेण शरीरत्यागस्य स्वतोऽशक्यत्वात् कथं सम्भवतीति सन्देहनिवारणप्रकारमाहुः । अशक्य इति ।

अशक्ये हरिरेवास्ति मोहं मा गाः कथञ्चन । ॥ १० ॥

यद्यपि बलात्कारेण शरीरत्यागः स्वकर्तृकश्चेत्स्यात्तदाऽशक्यः स्यात् । प्रकृते शरीरत्यागस्तु भगवदिच्छाकर्तृक इति न स्वस्याशक्यत्वम् । यतोऽशक्यादिसर्वदुःखहर्ता यो हरिः स एव सर्वपुरुषार्थसाधकत्वेन स्थित एवास्ति । अत्र हरिपदोक्त्या देहत्यागोपि फलान्तरायदुःखदूरीकरणार्थमेव । अतो लोके अशक्यस्याप्यनायासेन साधकत्वमुक्तं भवति । तस्मात्फलविलम्बाभावार्थमेतावत्कर्तारि मोहं मा गाः, मोहं चित्तविक्षेपं मा गा, न प्राप्नुहि, कथञ्चन केनापि प्रकारेण आज्ञोल्लङ्घनजनितापराधफलविलम्बविषये आज्ञोल्लङ्घनात्पूर्वसामयिकफलानुभवे, आज्ञाकरणानन्तरं फलानुभवतारतम्यविषये च सर्वात्मना वैयर्थ्याभावबोधनायोक्तम्, कथञ्चनति । अतः परमुक्तार्थमुपसंहरन्ति ॥१०॥

जेके अे वात योग्य छे के इणप्राप्तिमां विलंब न थवो जेईअे आ ज चिंतन करतां रहेवुं जेईअे परंतु अे इण प्राप्ति माटे पोते पोताना ज द्वारा जणपूर्वक पोतानुं शरीर छोडी देवानुं तो शक्य नथी तेथी आ अंधुं केवी रीते संभव थशे ? आवा संदेहनुं निवारण करवा माटे श्रीआचार्यचरणो हवे आगण अशक्य वगेरे शब्दो कही रह्या छे.

उपर्युक्त संदेहना निवारणमां अे वात समजवी जेईअे के जे पोते पोतानी रीते ज जणपूर्वक शरीर त्याग करवानी वात होत, त्यारे तो ते अशक्य होत पण अही तो शरीर त्याग करवामां स्वयं भगवाननी ईच्छा छे तेथी ते अशक्य नथी. केमके अशक्य जेवा समस्त दुःखोनुं हरण करवावाणा अने आपणा समस्त पुत्रपार्थोना साधक हरि आपणी जेडे ज छे. अही देहत्याग करवो पण मुख्यइणमां आववावाणी पाधाने कारणे थता दुःखने दूर करवा माटे छे. अने आ ज कारणे श्रीआचार्यचरणोअे भगवान माटे 'हरि' पदनो प्रयोग कर्यो छे. (भगवाननुं अेक नाम "हरि" छे. भगवाननुं नाम 'हरि' अे कारणे छे केमके तेओ भक्तोना दुःखोने हरी ले छे. अही श्रीआचार्यचरणोअे पण आ ज कारणे भगवान माटे "हरि" पदनो प्रयोग कर्यो छे केमके तेओ मुख्यइणमां आववावाणा विघ्नोथी उत्पन्न थवावाणां दुःखोने हरी लेशे, अेवो अर्थ छे.) तेथी लोकमां अशक्य जेवी परिस्थिति पण भगवद्-कृपा थी, वगर प्रयत्नथी सिद्ध थई नय छे. आ ज कारणे श्रीआचार्यचरणो पोताना अंतःकरणने कही रह्या छे के मुख्यइणमां थवावाणा विलंबने दूर करवा माटे आ देहना मोह न राख अर्थात् चित्तविक्षेप न कर.

अही श्रीआचार्यचरणोअे कथञ्चन शब्दनो उपयोग कर्यो छे, जेनो अर्थ थाय छे कोई पण प्रकृतो मोह न राखो अेटले भगवद्-आज्ञानुं उल्लंघन करवाना अपराधथी थता इण विलंबमां के पछी आज्ञानुं उल्लंघन करवानी पहेला थयेला इलानुभवमां के पछी भगवद्-आज्ञानुं पालन करी लीधा पछी थयेला इलानुभवमां; आ अर्थी परिस्थितिओमां कोई पण प्रकृतनी व्यग्रता मनमां न लाववी जेईअे, आ अर्थ छे. पोताना अंतःकरणने आटवुं अंधुं समजवी दीधा पछी हवे श्रीआचार्यचरणो आज्ञाना श्लोकमां उपर्युक्त समस्त वातोनी उपसंहार करी रह्या छे.

यद्यपि ये बात उचित है कि, फलप्राप्ति में विलंब नहीं होना चाहिए-यही चिंतन करते रहना चाहिए परंतु उस फलप्राप्ति के लिए खुद अपने ही द्वारा बलपूर्वक अपना ही शरीर त्याग कर देना तो शक्य नहीं है अतः ये सभी कुछ कैसे संभव होगा ? ऐसे संदेह का निवारण करने के लिए आचार्यचरण अब आगे अशक्य इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं ।

उपर्युक्त संदेह के निवारण में यह बात समझनी चाहिए कि, यदि खुद अपने आप ही बलपूर्वक शरीर त्याग करने की बात होती, तब तो वह अशक्य अवश्य होती परंतु यहाँ तो शरीर त्याग करने में स्वयं भगवान की इच्छा है अतः वह अशक्य नहीं है । क्योंकि अशक्य जैसे समस्त दुःखों का हरण करने वाले एवं हमारे समस्त पुरुषार्थों के साधक हरि हमारे साथ ही हैं । यहाँ देहत्याग करना भी मुख्यफल में आने वाली बाधा के कारण होते दुःख को दूर करने के लिए है और इसी कारण आचार्यचरणों ने भगवान के लिए 'हरि' पद का प्रयोग किया है। (भगवान का एक नाम हरि है । भगवान का नाम हरि इस कारण है क्योंकि वे भक्तों के दुःखों को हर लेते हैं । यहाँ आचार्यचरणों ने भी इसी कारण भगवान के लिए हरि पद का प्रयोग किया है क्योंकि वे मुख्यफल में आने वाले विघ्नों से उत्पन्न होने वाले दुःखों को हर लेंगे, यह अर्थ है ।) अतः लोक में अशक्य जैसी परिस्थिति भी भगवद्-कृपा से बिना प्रयास के सिद्ध हो जाती है । इस कारण आचार्यचरण अपने अन्तःकरण से कह रहे हैं कि मुख्यफल में होने वाले विलंब को दूर करने के लिए इस देह का मोह मत रखो अर्थात् चित्तविक्षेप मत करो । यहाँ आचार्यचरणों ने कथञ्चन शब्द का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ होता है किसी भी प्रकार का मोह मत रखो अर्थात् भगवद्-आज्ञा का उल्लंघन करने के अपराध से हुए फलविलंब में या फिर आज्ञा का उल्लंघन करने से पहले हुए फलानुभव में या फिर भगवद्-आज्ञा का पालन कर लेने के पश्चात् हुए फलानुभव में, इन सभी परिस्थितियों में किसी भी प्रकार की व्यग्रता मन में नहीं लानी चाहिए, यह अर्थ है । अपने अंतःकरण को इतना सब कुछ समझा देने के पश्चात् अब आचार्यचरण आगे के श्लोक में उपर्युक्त समस्त बातों का उपसंहार कर रहे हैं ॥१०॥

एवं प्रबोधनेन सर्वात्मना वैद्यग्र्यनिवृत्तिर्जातेति ज्ञापनायाहुः । इतीति ।

इति श्रीकृष्णदासस्य वल्लभस्य हितं वचः

चित्तं प्रति यदाकर्ण्यं भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ ११ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितमन्तःकरणप्रबोधःसमाप्तः ।

इतीति समाप्तौ । श्रीकृष्णदासस्य श्रीकृष्णपदेन भक्तसहितलीलारसाविष्टत्वं ज्ञापितं, तद्दासत्वेन शुद्धपुष्टिमागीयफलरूपदास्यं प्राप्तस्य तत्रापि वल्लभस्य प्रभोः शुद्धपुष्टिमागीयफलरूपदास्यप्राप्तानां च वल्लभस्यात्यन्तं प्रियस्य तादृशस्य स्वचित्तं प्रति हितं वचः, हित हितकारि । वचसि हितमिति पदोपादानेन वचनस्य आप्तवाक्यत्वेन प्रामाण्यावधारणेन चित्तस्य सर्वात्मना वैद्यग्याभावः सिद्ध्यतीति ज्ञापनायोक्तम् । चित्तं प्रतीति ।

पोताना अंतःकरणे आ प्रकरे समन्तवी दीधा पछी ह्ये अधी रीते व्यग्रता दूर थई गई छे, आ अताववा माटे श्रीआचार्यचरणो धीति वगेरे शब्दो कही रह्या छे.

धीति शब्दो अर्थ थाय छे, “समाप्ति.” आ श्लोकमां श्रीआचार्यचरणोअे पोताना माटे ‘श्रीकृष्णदासस्य’ पदनो प्रयोग कयो छे, जेमां “श्रीकृष्ण” पद द्वारा तेभणे भगवान श्रीकृष्णने तेमना भक्तो सहित करेली लीलाना रसथी परिपूर्णा अताव्या छे. आवा भगवान श्रीकृष्णना दास होवाने कारणे अने शुद्धपुष्टिमागीना इणइपदास्यने प्राप्त करवाने कारणे भगवानने अत्यंत प्रिय “वल्लभ” ना पोताना अंतःकरण प्रत्ये आ हितकारी वचन छे. श्रीआचार्यचरणोअे पोताना वचनोने हितकारी अताव्या छे, जेनाथी समन्तय छे के तेमना वचनो तेमना निबबनो माटे छे अने ते कारणे प्रामाणिक पण छे, तेथी अधी रीते चित्तनी व्यग्रता दूर थवी सिद्ध ब छे.

अपने अंतःकरण को इस प्रकार से समझा देने के पश्चात् अब सभी प्रकार की व्यग्रता दूर हो गई है, यह बताने के लिए आचार्यचरण इति इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं ।

इति शब्द का अर्थ होता है ‘समाप्ति’ । इस श्लोक में आचार्यचरणों ने अपने आप के लिए ‘श्रीकृष्णदासस्य’ पद का प्रयोग किया है, जिसमें ‘श्रीकृष्ण’ पद के द्वारा उन्होंने भगवान श्रीकृष्ण को उनके भक्तों के सहित की गई लीला के रस से परिपूर्ण बताया है । श्री शब्द का अर्थ है-गोपिकाएँ । ये गोपिकाएँ ही हमारे मार्ग में सर्वश्रेष्ठ भक्त हैं अतः श्रीकृष्ण पद का अर्थ हुआ - अपने भक्तों के सहित कृष्ण । ऐसे भगवान श्रीकृष्ण के दास होने के कारण एवं शुद्ध-पुष्टिमार्ग के फलरूप-दास्य को प्राप्त करने के कारण भगवान को अत्यंत प्रिय वल्लभ के अपने अन्तःकरण के प्रति ये हितकारी वचन हैं । आचार्यचरणों ने अपने वचनों को हितकारी बताया है, जिससे ज्ञात होता है कि उनके वचन उनके निजजनों के लिए हैं और इसी कारण प्रामाणिक भी हैं अतः सभी प्रकार से चित्त की व्यग्रता दूर होनी सिद्ध ही है।

एवं प्रबोधनेन स्वचित्तस्य शुद्धपुष्टिमागीयपरमफलानुभवयोग्यतां निःसन्दिग्धामुपपाद्य एतच्छ्रवणेन स्वमागीयाणामपि स्वाधिकारानुसारेणापि भक्तिमागीयफलं सिद्ध्यतीति ज्ञापनायाहुः, यदाकर्ण्यति । यद्वच आकर्ण्यं आसमन्ताच्छ्रुत्वा । यद्यपि वचः श्रुत्वेत्येतावतैव श्रवणसिद्धावपि आसमन्तात्कथनेन साभिप्रायश्रवणं ज्ञापितम् । साभिप्रायश्रवणस्य फलमाहुः, भक्ति इत्यादि । भक्तो भगवति स्निग्धो भवति । तदनन्तरमाचार्याणां फलविलम्बहेतुदूरीकरणसामर्थ्यं ज्ञात्वा स्वस्यापि फलविलम्बहेतुचिन्तां दूरीकरिष्यन्तीति चिन्तापरित्यागेन निश्चिन्ततां व्रजेत् प्राप्नोतीत्यर्थः ।

चित्तप्रबोधकाचार्यवचांसि विवृतानि वै ।

तेनाचार्याः प्रसीदन्तु स्वीये मयि सदा स्वतः ॥१॥

इति श्रीपितृपादाब्जपरागधनिना मया ।

श्रीवल्लभेन विरचिता विवृतिः पूर्णतामियात् ॥ २ ॥

अर्पिता श्रीमदाचार्यपदाब्जेषु मया स्वतः ।

तेनैव कृतकृत्योस्मि इति मे निश्चिता मतिः ॥३॥

इति श्रीवल्लभविरचितान्तःकरणप्रबोधटीका समाप्ता ।

श्रीआचार्यचरणोअे पोताना चित्तनुं आ प्रकारे प्रबोधन करीने तेमनी शुद्धपुष्टिमागीय परमइणनी योग्यताने संदेहरहित तो अतावी ब छे, परंतु तेमना आ हितकारी वचनोने सांभणवाधी स्वमागीयो (पुष्टिमागीयो) ने पण पोत-पोताना अधिकारना अनुसार भक्तिमागीय इण प्राप्त थरो, आ अताववा माटे आपश्रीअे यदाकण्य पद कह्युं छे. आकण्य शब्दो अर्थ थाय छे-अराअर सांभणवुं. जे के श्रीआचार्यचरणो केवण अेटलुं ब कही हेत के “भार वचनो ने सांभणो,” तो पण वात

समन्वयमां आवी न्वानी हती छतां पण आपश्री अे “भारा वयनोने ढरोढर सरभी रीते सांढणो” अेढ कङ्कुं छे. ढेनाथी अे समन्वय छे के तेओ अढिप्रायसहित सांढणवानी वात कही रह्या छे अने अढिप्रायसहित सांढणवानुं इण तेढणे ढक्तः वगेरे शङ्कोथी कङ्कुं छे. तात्पर्य आ छे के आपश्रीना वयनो सांढणी ढक्तने ढगवान प्रत्ये प्रेढ उत्पन्न थर्छ ढशे अने श्रीआचार्ययरशोना इलविलंबना कारणने दूर करवाना सामर्थ्य ने ढाणीने ढुद ते पण पोताना इणविलंबमां थवावाणी चिंताने दूर करी लेशे अने चिंता छोडीने निश्चिन्त थर्छ ढशे, ते आ पंक्तिनो अर्थ छे.

चिन्तना प्रढोधन करवावाणा श्रीआचार्यवयनोनुं मे विवरण कर्तुं छे,
 ढेनाथी श्रीआचार्ययरशो ढुङ्ग स्वीय पर सदा प्रसन्न रहो
 आ प्रकारे पितृयरणकढलोना पराग ना धनी ढुङ्ग “वङ्गढ” (श्रीगोकुलनाथण)
 द्वारा आ विवृति पूर्णताने प्राप्त थर्छ छे ॥ २ ॥
 अने, आ विवृति मे श्रीआचार्ययरणकढलोने अर्पित करी दीधी छे,
 ढेनाथी हुं कृतकृत्य थर्छ गयो छुं, अेवुं ढारुं निश्चित् ढानवुं छे. ॥ ३ ॥
 आ श्रीवङ्गढविरचित अन्तःकरणप्रढोधटीका समाप्त थर्छ.

आचार्यचरणों ने अपने चित्त का इस प्रकार से प्रबोधन करके उनकी शुद्धपुष्टिमार्गीय- परमफल की योग्यता को संदेहरहित तो बताया ही है परंतु उनके इन हितकारी वचनों को सुन लेने से स्वमार्गीयों (पुष्टिमार्गीयों) को भी अपने-अपने अधिकार के अनुसार भक्तिमार्गीयफल प्राप्त होगा - यह बताने के लिए आपश्री ने यदाकर्ण्य पद कहा है। ‘आकर्ण्य’ शब्द का अर्थ होता है - भलीभाँति सुनना। यद्यपि आचार्यचरण केवल इतना ही कह देते कि, ‘मेरे वचनों को सुनो’ तो भी बात समझ में आ ही जानी थी तथापि आपश्री ने “मेरे वचनों को भलीभाँति सुनो” यह कहा है, जिससे यह सिद्ध होता है कि वे अभिप्रायसहित सुनने की बात कह रहे हैं और इस प्रकार अभिप्रायसहित सुनने का फल उन्होंने भक्तः इत्यादि शब्दों से कहा है। तात्पर्य यह कि आपश्री के वचनों को सुनकर भक्त को भगवान से प्रेम उत्पन्न हो जायेगा और आचार्यचरणों की फलविलंब के कारण को दूर करने की सामर्थ्य को जानकर खुद वह भी अपने फलविलंब में होने वाली चिन्ता को दूर कर लेगा और चिन्ता त्याग कर निश्चिन्त हो जायेगा, यह इस पंक्ति का अर्थ है।

चित्त का प्रबोधन करने वाले आचार्यवचनों का मैंने विवरण किया है
 जिससे आचार्यचरण ढुङ्ग स्वीय (अपने) पर सदा प्रसन्न रहें ॥१॥
 इस प्रकार से पितृकढलचरणों के पराग के धनी ढुङ्ग वङ्गढ (श्रीगोकुलनाथजी) के
 द्वारा यह विवृति पूर्णता को प्राप्त हुई है ॥२॥
 और, यह विवृति मैंने श्रीढदाचार्यचरणकढलों को अर्पित की है
 जिससे मैं कृतकृत्य हो गया हूँ; यह मेरी निश्चित मति है ॥३॥
 यह श्रीवङ्गढविरचित अन्तःकरणप्रढोधटीका समाप्त हुई।



શ્રીકૃષ્ણાય નમઃ ।
શ્રીગોપીજનવલ્લભાય નમઃ ।
શ્રીમદાચાર્યચરણકમલેભ્યો નમઃ ।
શ્રીવલ્લભાચાર્યચરણવિરચિત

અન્તઃકરણપ્રબોધઃ ।

શ્રીરઘુનાથચરણનિર્મિતં વિવરણમ્ ।



વ્રજસ્ત્રીનેત્રનલિનવનાલીષુ પરિભ્રમન્ ।

લિપ્સંસ્તન્મધુ યોડલિત્વં પ્રાપ તં કૃષ્ણમાશ્રયે ॥ ૧ ॥

અથ ભગવદીયાનામનવરતભગવદ્ભજનસિદ્ધ્યર્થં તત્પ્રત્યૂહદુરિતજનિતચિન્તાસન્તાનદવદહનદમનોપાયમન્તઃકરણં સંમુખીકૃત્ય
પ્રતિજાનતે । અન્તઃકરણમદ્વાક્યં સાવધાનતયા શ્રૃણ્વિતિ ।

વ્રજગોપીકાઓના નેત્રકમલરૂપી વનોમાં પરિભ્રમણ કરતા તે મધુમાં ભળી જવાના કારણે,
જે કૃષ્ણ 'ભમરો' થઈ ગયા છે તેમનો હું આશ્રય કરું છું.

હવે આચાર્યચરણ ભગવદીયોને નિરંતર ભગવદ્-ભજન ની સિદ્ધિ માટે અને તે ભગવદ્-ભજનમાં ઉત્પન્ન થનારા વિઘ્નોથી
થવાવાળી ચિન્તારૂપી અગ્નિને દમન કરવાનો ઉપાય પોતાના અંતઃકરણને સામે રાખીને અંતઃકરણ મદ્વાક્યં સાવધાનતયા શ્રૃણુ
વગેરે શબ્દોથી કહી રહ્યા છે.

व्रजगोपिकाओं के नेत्रकमलरूपी वनों में परिभ्रमण करते हुए उस मधु में लित होने के कारण
जो कृष्ण भौरा हो गये हैं, उनका मैं आश्रय लेता हूँ ॥१॥

અબ આચાર્યચરણ ભગવદીયોં કો નિરંતર ભગવદ્-ભજન કી સિદ્ધિ કે લિપ્ એવં ઉસમેં ઉત્પન્ન હોને વાલે વિઘ્નોં કી કઠિનાઈ સે હોનેવાલી
ચિન્તારૂપી-અગ્નિ કો દમન કરને કા ઉપાય અપને અંતઃકરણ કો સામને કરકે અન્તઃકરણમદ્વાક્યં સાવધાનતયા શ્રૃણુ ઇત્યાદિ શબ્દોં સે કહ
રહે હૈં ।

અન્તઃકરણ મદ્વાક્યં સાવધાનતયા શ્રૃણુ ।

કૃષ્ણાત્પરં નાસ્તિ દૈવં વસ્તુતો દોષવર્જિતમ્ ॥ ૧ ॥

અત્ર સ્વાન્તઃકરણવ્યપદેશેનાન્યેષાન્તઃકરણં પ્રબોધ્યત ઇતિ જ્ઞેયમ્ । કૃષ્ણાત્પરં નાસ્તિ દૈવમિત્યાદિવક્ષ્યમાણં મદીયં વાક્યં
સાવધાનતયા પ્રમાદરાહિત્યેન શ્રૃણુ આકર્ણયેત્યર્થઃ । તદેવાહુઃ, કૃષ્ણાત્પરમિતિ । વસ્તુતઃ પરમાર્થતો વિચાર્યમાણે 'કૃષિર્ભૂવાચકં'
ઇત્યાદિનિરુક્તિબલાત્કૃષ્ણાત્પરમન્યદોષવર્જિતં દૈવં દેવઃ સર્વોપાસ્ય ઈશ્વરો નાસ્તીત્યર્થઃ । અત એવ ગીતાયાં 'ન ત્વત્સમોસ્ત્યભ્યધિકઃ
કુતોન્ય' ઇતિ । એવં બુદ્ધ્યસ્વેતિ વાક્યશેષઃ । નનુ ભગવદીયાનામપિ કદાચિલ્લોકવત્કુતશ્ચિદભિભવો દૃશ્યતેડતશ્ચાભિમાનેન
સ્વાવમાનમાશ્લક્ય, અહં ભગવતિ કૃતાત્મનિવેદીતિ સર્વે મયિ ભગવદેકકર્તૃકમિતિ વિમૃશ્ય મદપમાનમપિ ભગવતૈવ કૃતમિતિ
ભગવત્યપિ દોષસ્ફૂર્તૌ સદૃષ્ટાન્તં સમાધાનમાહુઃ ।

અહીં આચાર્યચરણ પોતાના અંતઃકરણને સમજવવાના બહાને બીજાઓના અંતઃકરણને પણ સમજાવી રહ્યા છે, આ
જાણવું જોઈએ. આપશ્રી આજ્ઞા કરી રહ્યા છે કે- "કૃષ્ણ સિવાય બીજા કોઈ દોષરહિત દેવ નથી"- મારા આ કથનને સાવધાનીપૂર્વક,
પ્રમાદરહિત થઈને સાંભળો, આ અર્થ છે. આ જ વાત એમણે કૃષ્ણાત્પર વગેરે શબ્દોથી કહી છે. વાસ્તવમાં જો પરમાર્થનો વિચાર
કરીએ તો - " 'કૃષ્' શબ્દ સત્તાનો વાચક છે, 'ણ' શબ્દ પૂર્ણતાનો વાચક છે અને કૃષ્+ણ આ બન્નેનું એક્ય પરબ્રહ્મ - શ્રીકૃષ્ણના
નામથી ઓળખાય છે." વગેરે શ્રુતિને અનુસાર કૃષ્ણ સિવાય બીજા કોઈ એવા દેવ જે બધાના ઉપાસ્ય હોય અને ઈશ્વર હોય - નથી,
આ અર્થ છે. એટલા માટે જ ભગવદ્ - ગીતામાં "હે ભગવાન ! આ ત્રિલોકમાં આપની બરાબર પણ કોઈ નથી, તો પછી આપનાથી
અધિક કોઈ કેવી રીતે હોય? (ભ.ગી.૧૧/૪૩) આ વાક્ય કહેવાયું છે - આ જાણી લેવું જોઈએ. પરંતુ, અહીં એક શંકા આ થાય છે
કે, જે ભગવદીય હોય છે તેમનો પણ આ સંસારમાં કદાચ ક્યારેક પરાજય થતો પણ દેખાય છે અને આવી રીતે તે લોકો પોતાનું

अपमान थतुं न्नेर्धने अलंकारना लीधे अेवुं विचारी शके छे डे - “भे तो मारुं सर्वस्व भगवानने निवेदित कर्तुं हतुं अेटले मारो ने कोर्ध पण पराजय अथवा तो अपमान थयुं छे ते भगवाने न करायुं छे” - आ रीते न्ने ते भगवानमां पण दोष गणवा आरंभ करी दे, तो आचार्यचरण हवे आगणना श्लोकमां दृष्टांत सहित आ शंकांनुं समाधान करी रह्या छे.

यहाँ आचार्यचरण अपने अन्तःकरण को समझाने के बहाने दूसरों के अन्तःकरण को भी समझा रहे हैं, यह जानना चाहिए । आपश्री आज्ञा कर रहे हैं कि - कृष्ण के अतिरिक्त कोई दूसरा दोषरहित देव नहीं है - मेरे इस कथन को सावधानीपूर्वक प्रमादरहित होकर सुनो, यह अर्थ है । यही बात उन्होंने कृष्णात्पर इत्यादि शब्दों से कही है । वास्तव में यदि परमार्थ का विचार करें तो - ‘कृष्’ शब्द सत्ता का वाचक है, ‘ण’ शब्द पूर्णता का वाचक है एवं कृष् और ण इन दोनों का ऐक्य परब्रह्म-श्रीकृष्ण के नाम से जाना जाता है - इत्यादि श्रुति के अनुसार कृष्ण से अतिरिक्त कोई दूसरा देव जो सभी के द्वारा उपास्य हो एवं ईश्वर हो-नहीं है, यह अर्थ है । इसी कारण भगवद्-गीता में, “ हे भगवान! इस त्रिलोकी में आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर आपसे अधिक कोई कैसे होगा ? (भ.गी. ११/४३)” यह कहा है-यह जान लेना चाहिए । किन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि, जो भगवदीय होते हैं उनकी भी कदाचित् कहीं पर पराजय होती दिखाई देती है और इस प्रकार से अपना अपमान होता देखकर वे अहंकारवश ऐसा सोच सकते हैं कि, मैंने तो अपना सभी कुछ भगवान को निवेदित किया था अतः मेरी जो कुछ भी पराजय या अपमान हुआ है, वह भगवान ने ही करवाया है-इस प्रकार से यदि वह भगवान में भी दोष गिनना आरंभ कर दे तो आचार्यचरण अब आगे दृष्टांतसहित इस शंका का समाधान कह रहे हैं ।

चाण्डाली चेद्राजपत्नी जाता राज्ञा च मानिता ।

कदाचिदपमाने वा मूलतः का क्षतिर्भवेत् ॥ २ ॥

अत्र चाण्डालीतिपदं महादोषोपलक्षणपरं, तेन सदोषा या काचन राजपत्नीत्वेन परिगृहीता जाता राज्ञा च सत्कृता, कदाचित्तस्या अपमानेपि मूलतः स्वरूपात्क्षतिः हानिः का भवेन्न कापीत्यर्थः । अयं भावः । भगवत्सम्बन्धं विना सर्वेषामन्तःकरणं स्वभावतो दुष्टमेव । उत्कर्षस्तु भगवत्सम्बन्धकृत एव, तेन यत्सम्बन्धात्स्वयमुत्कृष्ट इत्यभिमन्यते, तत्कृतापमानेपि स्वरूपं तु स्वस्य पूर्वं सदोषमेवेति कुतस्तरां दोषावकाश इति । चकारादन्यैरपि राज्ञीत्वेन मानिता पूजिता । दृष्टान्ते एवं ज्ञेयं, सदोषाया अपि चाण्डाल्या राजपरिग्रहात् मानिताया अपि कदाचिद्राजकृततिरस्कारे स्वजातीयपतिकृतसंमाननतो वरं राजकृततिरस्कार इति, यथा सम्बन्ध्युत्कर्षात्स्वोत्कर्षः । एवं भगवत्कृतापमानेपि स्वस्य लाभ एव न हानिरिति भावः ॥ २ ॥

अली आचार्यचरणोअे ‘चांडाली’ पद नो प्रयोग कर्यो छे, ने महादोषयुक्त छे. आ पदना उदाहरण थकी आचार्यचरण कही रह्या छे डे, मानी लो कोर्ध अत्यंत दोषयुक्त चांडाली स्त्री छे अने कोर्ध राज तेनी साथे विवाह करीने तेने पोतानी पत्नी इपे स्वीकार करी तेने सम्मानित करी दे अने कदाय कोर्धक वधते ते चांडाली स्त्रीनुं अपमान पण करी दे, तो पण तेनी शुं हानि थई? कंई न हीं कारणके राजपत्नीना इपे तेनुं अपमान थवुं तो चांडालीना इपे अपमान थवानी तुलनामां धणुं सारुं छे. आ उदाहरण थकी अली आ भाव समजयो न्नेर्धने डे भगवाननी साथे संबंध थया वगर तो अधानुं अंतःकरण स्वभावथी दुष्ट न होय छे अने भगवाननी साथे संबंध करी लेवाथी न अेनामां उत्कृष्टता उत्पन्न थाय छे. अतः ने भगवान साथे संबंध थवा पर आपणो पोतानामां उत्कृष्टता मानी रह्या छीअे, ते भगवान ने आपणुं अपमान पण करी दे तो आपणुं स्वइप तो पहलेथी न दोषयुक्त हतुं, हवे कोर्ध नयो दोष उत्पन्न थवा माटे कयां स्थान रही नय छे? ‘अ’ शब्दथी आ नणाय छे डे राजनी साथे साथे अन्य बीन लोकोअे पण ते चांडालीने राणी न गणी छे अने आदर पण आप्यो छे. अेटले आ संपूर्ण दृष्टांतथी आ समजवुं न्नेर्धने डे, दोषयुक्त चांडाली स्त्रीनो विवाह कोर्ध राज साथे थई गया पछी ने राज कयारेक कोर्ध कारणसर तेनुं अपमान पण करी दे तो ते अपमान तेना सन्नतीय पति (अर्थात् ने ते चांडाली स्त्रीनो विवाह कोर्ध राज साथे न थईने तेनी न नतिना कोर्ध चांडाल पुत्र साथे थयो होत तो) तरइथी आपेल सम्मानथी तो श्रेष्ठ न छे कारणके ने प्रकारनी व्यक्ति साथे आपणो संबंध थाय छे, आपणुं मान के अपमान पण तेना न्नेवुं न होय छे. अेटला माटे न भगवान ने आपणुं अपमान पण करी दे तो अेमां पण आपणने लाभ छे, हानि नहीं - आ भाव छे.

यहाँ आचार्यचरणों ने ‘चाण्डाली’ पद का प्रयोग किया है, जो महादोषयुक्त है । इस पद के उदाहरण द्वारा आचार्यचरण यह कह रहे हैं कि, मान लो कोई अत्यंत दोषयुक्त चाण्डालीस्त्री है और कोई राजा उससे विवाह करके अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार करके उसे सम्मानित कर दे और फिर कभी उसी चाण्डालीस्त्री का अपमान भी कर दे, तो भी स्वरूपतः उसकी क्या हानि हुई ? कुछ भी नहीं क्योंकि राजपत्नी के रूप में उसका अपमान होना चाण्डाली के रूप में अपमान होने से तो फिर भी अच्छा है । इस उदाहरण के द्वारा यहाँ यह भाव समझना चाहिए कि भगवत्संबंध होने के बिना तो सभी का अन्तःकरण स्वभाव से तो दुष्ट ही होता है और भगवत्संबंध कर लेने पर ही उसमें उत्कृष्टता आती है । अतः जिस भगवान

के साथ संबंध होने पर हम अपने आप में उत्कृष्टता मान रहे हैं, वह भगवान यदि हमारा अपमान भी कर दें, तो हमारा स्वरूप तो पहले से ही दोषयुक्त था, अब और कोई नया दोष आ जाने को कहाँ अवकाश रह जाता है? 'च' शब्द से यह ज्ञात होता है कि राजा के साथ-साथ अन्य दूसरों ने भी उस चाण्डाली को रानी माना ही है एवं आदर भी दिया है। अतः इस संपूर्ण दृष्टांत से यह समझना चाहिए कि दोषयुक्त चाण्डालीस्त्री का विवाह किसी राजा के साथ हो जाने के पश्चात् यदि राजा कभी किसी कारण से उसका अपमान भी कर दे तो वह अपमान उसके सजातीय पति (अर्थात् यदि उस चाण्डाली स्त्री का विवाह किसी राजा से न होकर उसकी ही जाति के किसी चाण्डाल पुरुष से हुआ होता तो) के द्वारा दिए गये सम्मान से तो श्रेष्ठ ही है क्योंकि जिस प्रकार के व्यक्ति से हमारा संबंध होता है, हमारा उत्कर्ष या अपमान भी उसी के जैसा होता है। इसी कारण भगवान यदि हमारा अपमान भी कर दें तो उसमें भी हमारा लाभ ही है हानि नहीं, यह भाव है ॥२॥

स्वस्यान्तःकरणं स्वयमेव कथं बोधनीयमित्यपेक्षायामाहुः ।

समर्पणादहं पूर्वमुत्तमः किं सदा स्थितः ।

का ममाधमता भाव्या पश्चात्तापो यतो भवेत् ॥ ३ ॥

योहमिदानीमुत्तमत्वाभिमानेनावमतोस्मीति मन्ये स एवाहमात्मसमर्पणात्पूर्वमपि किं सर्वकालमुत्तम एव स्थित आसम्, प्रत्युत तद्विपरीत एवासमतो मम पूर्वापेक्षयाऽधमता का भाव्या भविष्यति । यतः पूर्वावस्थामनुस्मृत्य पश्चात्तापो भवेदित्यर्थः ॥ ३ ॥

हवे आचार्यचरण पोताना अंतःकरणे कया प्रकारथी समझपी रह्या छे, आ आगणना श्लोकमां बतावी रह्या छे.

उपरना श्लोकमां आचार्यचरण पोताना अंतःकरणे समझवतां आज्ञा करी रह्या छे के - आ जे हुं उत्तमतानां अभिमानथी गर्वित थई रह्यो छुं, ते जे हुं शुं आत्मसमर्पणानी पहेलां दरेक समये उत्तम हतो ? नहोतो. उलटानुं तेनाथी विपरीत हतो, तेथी हवे पहेलांनी जे मारी ओर अधिक अधमता शी थवानी, जेनाथी हुं मारी पहेलांनी अवस्थानो विचार न करीने हवे पश्चात्ताप करुं ? आ अर्थ छे.

अब आचार्यचरण अपने ही अन्तःकरण को किस प्रकार से समझा रहे हैं, यह आगे के श्लोक में बता रहे हैं।

उपर्युक्त श्लोक में आचार्यचरण अपने अन्तःकरण को समझाते हुए यह आज्ञा कर रहे हैं कि, यह जो मैं उत्तमता के अभिमान से गर्वित हुआ जा रहा हूँ, वही मैं क्या आत्म-समर्पण के पूर्व सभी समय उत्तम था ? नहीं, उलटे उसके विपरीत था अतः पहले की भाँति अब मेरी और अधिक अधमता क्या होगी, जिससे कि मैं अपनी पूर्व-अवस्था का विचार कर के अब पश्चात्ताप करूँ ? यह अर्थ है ॥३॥

नन्वेवं बहुशः समाधानेपीदानीन्तनावमानवत्फलदशायामप्येवं कुर्याच्चेत्तदानीं कथं समाहितिरित्यपेक्षायामाहुः

सत्यसङ्कल्पतो विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यति ।

आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहोऽन्यथा भवेत् ॥ ४ ॥

सत्यो यथार्थो यः सङ्कल्पो व्रतं तस्माद्विष्णुः सर्वत्र वर्तमानः फलदशायामप्यन्यथा न करिष्यत्येवेति ज्ञेयम् । तशब्दो निन्दारणे च । स च सङ्कल्पो यथा “द्विःशरं नाभिसन्धत्ते द्विःस्थापयति नाश्रितान् । द्विर्ददाति न चार्थिभ्यो रामो द्विर्नैव भाषते” । “सकृदेव प्रपन्नो यो यस्तवास्मीति याचते । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम” । “कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यती” त्येवमादिषु ज्ञेयः । येन भगवताहं सर्वतः पृथक्कृत्य स्वभजने योजितः स कथमग्रे त्यक्ष्यतीति भावः । स्वस्यावश्यकर्तव्यमाहुः । आज्ञैवति । सततं निरन्तरमाचार्यद्वारा या आज्ञा सैव कार्या न तु

कदाचिदप्यनाज्ञप्तमन्यमतसिद्धं वा । अन्यथा एवमकरणे स्वामिद्रोह एव भवेत् ॥ ४ ॥

आ प्रकारे आचार्यचरण पोताना अंतःकरणे अनेक समाधान आपी तो रह्या छे, छतांय तेमना मनमां अेक संशय आ थई रह्यो छे के, जे हमाणां जे मारी भगवाननी आज्ञानुं पालन न थवाथी भगवान मारी उपेक्षा करी शके छे, तो जेधारे मुख्य इलदशा (अर्थात् प्रभुथी साक्षात् मिलन) नो समय आवशे, त्यारे जे तेमणे मारी उपेक्षा करी दीधी तो शुं थशे ? आपी शंका थवा पर आपथ्री आगणना श्लोक द्वारा समाधान करी रह्या छे.

आपथ्री उपरना श्लोक द्वारा आ आज्ञा करी रह्या छे के, भगवाननो संकल्प/व्रत सत्य अथवा तो यथार्थ होवाने कारणे जे तेमने विष्णु कहेवामां आवे छे अने तेओ सर्वत्र व्याप्त छे. तेथी मुख्य इलदशाना समये पण मारी उपेक्षा नहीं करे. भगवाननो संकल्प सत्य छे, आ आगणना श्लोको द्वारा ज्ञानी शक्य छे. भगवान राम कहे छे - “हुं जे वार जाण नथी यलावतो, मारा आश्रितोने जे वार आश्रय नथी आपतो, मागवावाणाओने जे वार नथी आपतो अने अेक जे वातने जे वार नथी ओलतो.” “जे

केवल એક જ વાર મારી શરણાગતિ કરી લે અને 'હું આપનો છું' આ પ્રકારે મારી સમક્ષ યાચના કરે તો હું એને બધા પ્રકારે અભયદાન આપી દઉં છું આ મારું વ્રત છે.' (વા.રા.૬/૧૮/૩૩). ભગવદ્-ગીતાના "હે કુંતીપુત્ર અર્જુન ! તમે આ પ્રતિજ્ઞા કરો કે મારા ભક્તનો ક્યારેય વિનાશ થતો નથી" (ભ.ગી.૯/૩૧) વગેરે શ્લોકોથી આ વાત બહુ લેવી જોઈએ. આચાર્યચરણોનું તાત્પર્ય આ છે કે જે ભગવાને મને બીજી બધી જગ્યાથી હટાવી એમના ભજનમાં લગાવી દીધો છે, તે આગળ મારો ત્યાગ કેવી રીતે કરશે ? આ ભાવ છે. હવે આના પછી આચાર્યચરણ જીવોનું અવશ્ય - કર્તવ્ય શું છે, આ આજ્ઞા વગેરે શબ્દોથી બતાવી રહ્યા છે. આપશ્રી કહે છે કે જીવને સતત-નિરંતર એમની જ એટલે કે આચાર્યચરણોની જ આજ્ઞાનું પાલન કરવું જોઈએ, અને એમની આજ્ઞા વગર બીજું કંઈ પણ ન કરવું જોઈએ અને ક્યારેય પણ અન્ય બીજા મતો દ્વારા આપેલ આજ્ઞાનું પાલન નહીં કરવું જોઈએ. જો આપણે આવું ન કરીએ તો સ્વામિદ્રોહ કરવું થઈ જશે.

इस प्रकार से आचार्यचरण अपने अन्तःकरण को अनेक समाधान दे रहे हैं परंतु फिर भी उनके मन में एक संशय यह हो रहा है कि, जब अभी ही मेरे आज्ञा-पालन न करने से भगवान मेरी उपेक्षा कर सकते हैं तो जब मुख्य-फलदशा (प्रभु से साक्षात् मिलन) का समय आयेगा तब यदि उन्होंने ऐसा कर दिया तो क्या होगा ? ऐसी शंका होने पर आपश्री आगे के श्लोक द्वारा समाधान कर रहे हैं ।

આપશ્રી ઉપર્યુક્ત શ્લોક દ્વારા યહ આજ્ઞા કર રહે છે કિ, ભગવાન કા સંકલ્પ/વ્રત સત્ય યા યથાર્થ હોને કે કારણ હી ઉન્હે વિષ્ણુ કહા જાતા હૈ ઓર વે સર્વત્ર વ્યાપ્ત હૈ અતઃ મુખ્ય-ફલદશા કે સમય મી એસા નહીં કરેંગે । ભગવાન કા સંકલ્પ સત્ય હૈ, યહ ઇન શ્લોકો દ્વારા જાના જા સકતા હૈ । ભગવાન રામ કહતે હૈ, "મૈં દો બાર બાળ નહીં ચલાતા, અપને આશ્રિતોં કો દો બાર આશ્રય નહીં દેતા, માંગેવાલોં કો દો બાર નહીં દેતા ઓર એક હી બાત કો દો બાર નહીં કહતા" । "જો કેવલ એક હી બાર મેરી શરણાગતિ કર લે એવં 'મૈં આપકા હૂં' ઇસ પ્રકાર સે મેરે સામને યાચના કરે તો મૈં ઉસે સમસ્ત વસ્તુઓં સે અભયદાન દે દેતા હૂં, યહ મેરા વ્રત હૈ (વા.રા.૬/૧૮/૩૩)" । ભગવદ્-ગીતા કે, "હે કુંતીપુત્ર અર્જુન ! તુમ યહ પ્રતિજ્ઞા કરો કિ મેરે ભક્ત કા વિનાશ નહીં હોતા (ભ.ગી.૯/૩૧) ઇત્યાદિ શ્લોકોં સે યહ બાત જાન લેની ચાહિયે। સમજાના ચાહિયે કિ, જિસ ભગવાન ને મુજે અન્ય સમી જગહોં સે હટાકર અપને ભજન મેં લગા દિયા હૈ, વે આગે સમી જગહોં સે હટાકર અપને ભજન મેં લગા દિયા હૈ, વે આગે મેરા ત્યાગ કેસે કર સકતે હૈ ? યહ ભાવ હૈ । અબ ઇસકે પશ્ચાત્ આચાર્યચરણ જીવોં કા અવશ્ય-કર્તવ્ય ક્યા હૈ, યહ આજ્ઞા ઇત્યાદિ શબ્દોં સે બતા રહે હૈ । આપશ્રી કહતે હૈ કિ જીવ કો સતત નિરંતર ઉનકી (આચાર્યચરણોં કી) હી આજ્ઞા કા પાલન કરના ચાહિયે ઓર આપશ્રી કી આજ્ઞા વિના કુછ નહીં કરના ચાહિયે । કમી મી અન્ય મતોં કે દ્વારા દી ગઈ આજ્ઞા કા પાલન નહીં । અન્યથા યદિ એસા નહીં કરેંગે તો સ્વામિદ્રોહ હી કરના હો જાયેગા ॥૪॥

नन्वाज्ञातिरिक्तकार्यमात्राकरणे प्राप्ते चिकीर्षितकार्यस्य कथं सम्पत्तिरित्याहुः ।

सेवकस्य तु धर्मोयं स्वामी स्वस्य करिष्यति ।

सर्वस्वनिवेदिभक्तस्यायमेव धर्मो यत् स्वामी प्रभुरेव सर्वमैहिकामुष्मिकं स्वस्य स्वीयभक्तस्य करिष्यतीत्यर्थः । एवमनुसन्धानेन स्थेयमिति भावः ॥ ५ ॥

હવે જો એવું જ હોય કે, આજ્ઞા વગર બીજું કોઈ કાર્ય ન કરવું તો પછી આપણે જે કાર્ય કરવાની ઈચ્છા કરી છે તે કેવી રીતે પૂર્ણ થશે ? આ શંકાનું સમાધાન આપશ્રી આગળના શ્લોકમાં આપી રહ્યા છે.

આ સંદર્ભમાં એક વાત આ બહુ લેવી જોઈએ કે, જે ભક્તે પોતાનું સર્વસ્વ ભગવાનને નિવેદિત કરી દીધું છે, તેનો ધર્મ આ જ છે કે, એ આ વિચાર કરે કે એના સ્વામી, પ્રભુ જ પોતાના ભક્તના લૌકિક-અલૌકિક સમસ્ત કાર્યોને પૂર્ણ કરશે, આ અર્થ છે. તેણે મનમાં સતત આવો જ વિચાર કરતાં રહેવું જોઈએ, આ ભાવ છે.

अब यदि ऐसा ही है कि प्रभु-आज्ञा के अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा कार्य करना ही नहीं तो फिर हमने जिस कार्य को करने की इच्छा की है वह कैसे पूर्ण होगा? इस शंका का समाधान आपश्री आगे के श्लोक में दे रहे हैं ।

इस संदर्भ में एक बात यह जान लेनी चाहिए कि, जिस भक्त ने अपना सर्वस्व भगवान को निवेदित कर दिया है उसका धर्म यही है कि वह यह सोचे कि, उसके स्वामी-प्रभु ही अपने भक्तों के लौकिक-अलौकिक समस्त कार्यों को पूर्ण करेंगे, यह अर्थ है । उसे मन में सतत ऐसा ही विचार करते हुए रहना चाहिए, यह भाव है ॥५॥

अत्र विश्वासार्थमाचार्याः स्वानुभवमुद्धावयन्त्याज्ञा पूर्वमित्यारभ्य श्लोकद्वयेन ।

आज्ञा पूर्व तु जाता गङ्गासागरसङ्गमे ।

यापि पश्चान्मधुवने न कृतं तद्द्वयं मया ॥ ६ ॥

देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः ।

पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोऽहं न चान्यथा ।

लौकिकप्रभुवत्कृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन ॥ ७ ॥

आज्ञापूर्वमिति । मां प्रति पूर्वं प्रथममाज्ञा देशपरित्यागविषयिणी गङ्गासागरसङ्गमे जाता । यापि पुनरन्या देहपरित्यागविषयिणी मधुवने मथुरायां जाता तदाज्ञाद्वयं मया न कृतमेव । तृतीया या लोकगोचरा लोकविषयिणी लोकानुद्धरस्वेत्येवंरूपा सा कृतेति शेषः ।

हवे अहीं आ वात उपर विश्वास दढ करवा माटे आचार्यचरण ऐमनो पोतानो अनुभव आज्ञा पूर्व वगेरे शब्दोथी आरंभ करीने बे श्लोको थकी भतावी रह्या छे.

आचार्यचरण आज्ञा करी रह्या छे के, मने देशत्याग माटे पहलेली आज्ञा गंगासागरसंगम पर थई हती अने पछी देहत्याग माटे भीष्म आज्ञा मथुराना मधुवनमां थई हती-आ भन्ने आज्ञाओनुं पालन में नहोतुं कर्तुं. त्रीष्म ने लोकगोचरा-आज्ञा हती अर्थात् “लोकनो उद्धार करो” आ प्रकारनी ने आज्ञा थई हती, तेनुं पालन में कर्तुं.

अब यहाँ इस बात पर विश्वास दृढ़ करने के लिए आचार्यचरण उनका अनुभव आज्ञा पूर्व इत्यादि शब्दों से आरंभ करके दो श्लोकों के द्वारा बता रहे हैं ।

आचार्यचरण कह हैं कि, मुझे देशत्याग-विषयक पहली आज्ञा गंगासागर संगम पर हुई थी और फिर देहत्याग-विषयक दूसरी आज्ञा मथुरा के मधुवन में हुई थी-इन दोनों ही आज्ञाओं का पालन मैंने नहीं किया था । तृतीय जो लोकगोचरा-आज्ञा थी अर्थात् ‘लोक का उद्धार करो’, इस प्रकार की जो आज्ञा हुई थी, वह मैंने पालन की ।

तत्राज्ञाद्वयभङ्गरूपेण्यर्थे सति कथं मम पश्चात्तापो, यन्मया न कृतमित्येवं रूपः, स न कथमपि सङ्गच्छत इति । अकरणे हेतुः, सेवकोहमिति । सेवकस्य सर्वस्वनिवेदिनो या काचन कृतिः सा भगवदिच्छयैवेति निश्चयात् । न चान्यथा अन्यसदृशो नास्मीत्यर्थः ।

ननु लौकिकप्रभूणामिवाज्ञाभङ्गस्यादोषत्वे भगवतोपि तथात्वापत्तिरित्यत आहुः । लौकिकप्रभुवदिति । कदाचिदासुरव्यामोहार्थं लोकवदाचरणेपि लोकवद्भगवान्न कदाचिदपि ज्ञेय इत्यर्थः । लोकवदाचरणं तु रामायणमौसलादिषु प्रसिद्धम् ॥ ७ ॥

अहीं आचार्यचरण आ कही रह्या छे के, में बे आज्ञाओनुं पालन न कर्तुं - आ प्रकारनो पश्चात्ताप मारे शा माटे करवो न्नेईअे ? आवो पश्चात्ताप मारा पर कोई पण प्रकारे लागु थतो नथी. ते बे आज्ञाओनुं पालन न करवानुं कारण आपत्री सेवकोहं वगेरे शब्दोथी भतावी रह्या छे. आपत्री आज्ञा करे छे के, नेणे भगवानने सर्वस्व निवेदन करी दीधुं छे अेवा सेवकनी ने कांई पण कृति होय छे, ते भगवद्-ईच्छाथी न होय छे अने हुं तो ऐमनो सेवक न छुं, कोई भीष्म नेवो नथी, आ अर्थ छे.

परंतु अहीं ऐक शंका आ थाय छे के, नेवी रीते कोई लौकिक स्वामी द्वारा आपेल आज्ञानो भंग करवाथी कोई गंभीर अथवा तो शास्त्रोक्त दोष मानवामां नथी आवतो, तेवी रीते ने कोई भगवाननी आज्ञा भंग करवामां पण आवो गंभीर अथवा तो शास्त्रीय दोष न माने, तो आनुं समाधान आचार्यचरण लौकिकप्रभुवत् वगेरे शब्दोथी करी रह्या छे. आसुरी सृष्टिने व्यामोहित करवा माटे ने भगवान क्यारेक लौकिक-आचरण पण करतां होय, तो पण तेमने क्यारेय पण लौकिक न न्नेणुं न्नेईअे, आ अर्थ छे. भगवाननुं लौकिक-आचरण तो रामायण अने श्रीभद्-भागवत ना ऐकादशस्कंध वगेरेमां प्रसिद्ध छे न (नुओ ऐकादशस्कंधनो ३०मुं अने ३१मो अध्याय न्यां भगवाने पोतानुं लौकिक-आचरण भताव्युं छे.)

यहाँ आचार्यचरण यह कह रहे हैं कि, मैंने यह दो आज्ञाएँ नहीं मानी, इस प्रकार का पश्चात्ताप मुझे क्यों करना चाहिए ? ऐसा पश्चात्ताप मुझ पर किसी भी प्रकार से लागू नहीं होता । उन दो आज्ञाओं का पालन न करने का कारण आपत्री सेवकोहं इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं । आपत्री आज्ञा करते हैं कि जिसने सर्वस्व निवेदन कर दिया है ऐसे सेवक की जो कोई भी कृति होती है, वह भगवदिच्छा से ही होती है और मैं तो उनका सेवक ही हूँ कोई दूसरों जैसा नहीं, यह अर्थ है ।

परंतु यहाँ एक शंका यह होती है कि, जिस प्रकार किसी लौकिक स्वामी के द्वारा दी गई आज्ञा को भंग करने से कोई गंभीर या शास्त्रोक्त-दोष नहीं माना जाता, उसी प्रकार यदि कोई भगवान की आज्ञा भंग करने में भी ऐसा शास्त्रीय दोष न माने, तो इसका समाधान आचार्यचरण लौकिकप्रभुवत् इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं । आसुरी सृष्टि को व्यामोहित करने के लिए भगवान कभी लौकिक आचरण भी करते हो, तथापि उन्हें

कभी भी लौकिक नहीं जानना चाहिए, यह अर्थ है । भगवान का लौकिक आचरण तो रामायण और श्रीमद्-भागवत के एकादशस्कंध इत्यादि में प्रसिद्ध ही है (देखें एकादशस्कंध का ३० वां एवं ३१ वां अध्याय जहाँ भगवान ने अपना लौकिक-आचरण प्रदर्शित किया है) ॥ ७ ॥

कस्मिन्नप्यंशे चिन्ता न कार्येत्याहुः ।

सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोसि सुखी भव ।

प्रौढापि दुहिता यद्वत्स्नेहात् प्रेष्यते वरे ॥ ८ ॥

तथा देहे न कर्तव्यं वरस्तुष्यति नान्यथा ।

लोकवच्चेत्स्थितिर्मे स्यात्किं स्यादिति विचारय ॥ ९ ॥

सर्वं लौकिकालौकिकसाधारणं स्वीयं भक्त्या स्नेहपूर्वकं समर्पितमेवास्ति, अतः कृतार्थोसि कृतकृत्योसि सुखी भव, सुखेनैवं वर्त्तस्व, न मिथ्या चिन्तयेत्यर्थः । आलस्यादिना भगवदर्थं प्रियास्पदं स्वशरीरमनुपयुञ्जानं प्रति सदृष्टान्तं दोषमाहुः । प्रौढापीति । प्रौढा वृद्धा, अपि शब्दादप्रौढापि दुहिता यदा स्नेहवशाद्द्वरे तद्दर्त्तरि न प्रेष्यते न याप्यते तदा तत्स्वामी वरस्तां विना प्रकारान्तरेण न तुष्टो भवतीति, यद्वद्यथास्ति तथा निवेदिते देहेऽप्यतिस्नेहवशादनुपयोगो भगवदसन्तोषकारक इत्यर्थः । लोकवदिति । साधारणलोकवन्मे यदि स्थितिः स्यात्तदेदानीं तनावस्थापेक्षया तदधिकं लोके वेदे च किं स्यात् किमपि, प्रत्युत सर्वनाश एव भवेदित्येवं त्वमेव विचारय, इदमुपपन्नं न वेति ।

आटकुं विवरण कर्त्ता पछी हवे आगणना श्लोकोमां आचार्यचरण आ आज्ञा करी रह्या छे के, आपणे कोर्षपण अंशमां चिन्ता न करवी नेईये.

आचार्यचरण अर्थात् आ आज्ञा करी रह्या छे के तमारुं लौकिक-अलौकिक-साधारण अर्थात् भक्तिपूर्वक स्नेहपूर्वक भगवानने समर्पित न छे, तेथी तमे कृतार्थ छे, कृतकृत्य छे, तेथी सुखी रहो, सुखपूर्वक न रहो, व्यर्थनी चिन्ता न करो आ अर्थ छे. ने आपणे आणस वगरे करीने इक्त आपणा देहथी न प्रेम करीये अने तेने भगवद्-सेवामां न लगाडीये तो ते दोष छे-आ वातने आचार्यचरण प्रौढापि वगरे शब्दोथी दृष्टान्तसहित दोष बतावी रह्या छे. प्रौढानो अर्थ थाय छे-वृद्धा. आचार्यचरणो अर्थात् प्रौढापि (प्रौढा+अपि) शब्द मां 'अपि' शब्दनो प्रयोग कर्त्तो छे, जेनाथी तात्पर्य आ नीकणे छे के, जे कन्यानी आयु नीकणी गई होय अने तो अना पति पासे भोक्लवी तो आवश्यक छे न परंतु कन्या जे युवा होय अने अवी कन्याने अना पति पासे भोक्लवामां न आवे तो पति अना वगर भीन कोर्ष प्रकारथी संतुष्ट थतो नथी. तेथी न रीते भगवानने निवेदित करेल आ देहने जे अतिस्नेहने कारणे भगवानना उपयोगमां लेवामां न आवे तो भगवानने पण ते असंतोषजनक न छे, आ अर्थ छे. आचार्यचरण लोकवत् वगरे शब्दोथी आ आज्ञा करी रह्या छे के, जे साधारण लौकिकमां न भारी स्थिति होत तो शुं थात ? आ सभये जे प्रभु मने आज्ञा करीने अमनी पासे बोलावे छे, आ अवस्थाथी अधिक मने लोकमां अने वेदमां शुं मणी नवानुं हतुं ? कंई न नही. उलटानुं सर्वनाश न थवानुं हतुं, आ तमे न विचार करो के मे जे कह्युं ते उचित छे के अनुचित ?

इतना विवरण करने के पश्चात् अब आगे के श्लोकों में आचार्यचरण यह आज्ञा कर रहे हैं कि, किसी भी अंश में चिन्ता नहीं करनी चाहिए ।

आचार्यचरण यहाँ यह आज्ञा कर रहे हैं कि, अपना लौकिक-अलौकिक-साधारण सभी कुछ भक्तिपूर्वक स्नेहपूर्वक भगवान को समर्पित ही है अतः तुम कृतार्थ हो, कृतकृत्य हो इसलिए सुखी रहो । सुखपूर्वक ही रहो; व्यर्थ की चिन्ता मत करो यह अर्थ है । यदि हम आलस्य-आदि से केवल हमारी देह से ही प्रेम करें और उसे भगवद्-सेवा में योजित न करें तो वह दोष है-यह आचार्यचरण प्रौढापि इत्यादि शब्दों से दृष्टान्तसहित दोष बता रहे हैं । प्रौढा का अर्थ होता है 'वृद्धा' । आचार्यचरणों ने यहाँ प्रौढापि (प्रौढा+अपि) शब्द में 'अपि' शब्द का प्रयोग किया है, जिससे तात्पर्य यह निकलता है कि जिस कन्या की आयु निकल चुकी हो, उसे उसके पति के पास भेजना तो आवश्यक है ही परंतु जो युवा हो, उसे यदि उसके पति के पास न भेजी जाय तो पति उसके अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार से संतुष्ट नहीं होता, उसी प्रकार यदि भगवान को निवेदित की जा चुकी इस देह को अति स्नेहवश भगवान के उपयोग में न लाया जाय तो भगवान को भी वह असंतोषकारक ही रहता है, यह अर्थ है । आचार्यचरण लोकवत् इत्यादि शब्दों से यह आज्ञा कर रहे हैं कि, यदि साधारण लौकिक में ही मेरी स्थिति होती तो क्या होता ? इस समय जो प्रभु ने मुझे आज्ञा करके अपने पास बुलाया है; इस अवस्था से अधिक से अधिक मुझे लोक में एवं वेद में क्या प्राप्त होना था ? कुछ भी नहीं उल्टे मेरा सर्वनाश ही होना था, यह तुम ही विचार करो कि मैंने जो कहा वह उचित है या अनुचित ?

ननु सर्वथा शरीराद्यशक्तौ भजनासम्भवे कथं निस्तार इत्यत आहुः ॥

अशक्ये हरिरेवास्ति मोहं मा गाः कथञ्चन ॥ १० ॥

सर्वप्रकारेण कृत्यऽसाध्येर्थे हरिरेवास्ति मम शरणमिति बुद्धिमवलम्बस्व । अस्मिन्नर्थे कथमपि मोहं वैचित्यं मा गाः, मा प्राप्नुहि ॥ १० ॥

परंतु जे शरीर सर्वथा अशक्त थई जय अने भगवद्-भजन करवानुं न बनतुं होय, तो डेवी रीते उध्दार थशे-आ आचार्यचरण आगणना श्लोकमां अतावी रह्या छे.

आपश्री अही आ आज्ञा करी रह्या छे डे आपश्राथी असाध्य अधी न परिस्थितिओमां अधा न प्रकारथी हरि न आपशुं शरणा छे, आ वात बुद्धिमां धारणा करी लो अने आमां कोरपण प्रकारनी दुविधा न राओ .

परंतु यदि शरीर सर्वथा अशक्त हो जाय एवं भगवद्-भजन करना संभव न हो तो कैसे उद्धार होगा, यह आचार्यचरण आगे के श्लोक में बता रहे हैं ।

आपश्री यहाँ यह आज्ञा कर रहे हैं कि, अपनी कृति से असाध्य परिस्थितियों में सभी प्रकार से हरि ही मेरी शरण हैं, यह बात बुद्धि में धारण कर लो और इस बात में किसी भी प्रकार की असमंजसता मत रखो ॥१०॥

उपसंहरन्ति ।

इति श्रीकृष्णदासस्य वल्लभस्य हितं वचः ।

चित्तं प्रति यदाकर्ण्यं भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ ११ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितान्तःकरणप्रबोधः ।

श्रीकृष्णे दास्यं गतस्य वल्लभस्य, श्रीकृष्णदासस्येति जात्यभिप्रायेणैकवचनं वा । श्रीकृष्णदासस्य चित्तं प्रति हितमभीष्टसम्पादकं वल्लभस्येदमभिहितं वचो ज्ञेयम् । कथं तदित्यत आहुः, यदाकर्ण्येति । यद्वचः श्रुत्वा भक्तो नैश्चिन्त्यं प्राप्नुयादिति ॥ ११ ॥

इति * श्रीविद्वल्लेश्वरात्मजश्रीरघुनाथविरचितमन्तःकरणप्रबोधविवरणं संपूर्णम् ।

आना पछी आगण छेह्या श्लोक थकी आचार्यचरण आ ग्रंथनुं उपसंहार करी रह्या छे.

श्रीकृष्णनुं दासत्व जेभणे प्राप्त करी लीधुं छे अेवा श्रीकृष्णदास - वल्लभना आ हितकारी वचन छे, आ जणुं लेवुं जेईअे. 'श्रीकृष्णदासस्य' पदमां जतिना अभिप्रायथी अेकवचननो प्रयोग करवामां आव्यो छे. आ वचनोने सांभणवुं शा माटे आवश्यक छे, आ आपश्री यदाकर्ण्यं वगेरे शब्दोधी अतावी रह्या छे डे आ वचनोने सांभणवाथी भक्तमां निश्चितता आवे छे, आ अर्थ छे.

आ श्रीविद्वल्लेश्वरात्मज श्रीरघुनाथविरचित अंतःकरण प्रबोध विवरण संपूर्ण थयो ॥

इसके पश्चात् आगे के अंतिम श्लोक के द्वारा आचार्यचरण इस ग्रंथ का उपसंहार कर रहे हैं ।

श्रीकृष्ण का दासत्व जिसने प्राप्त कर लिया है ऐसे, 'श्रीकृष्णदास वल्लभ' के ये हितकारी वचन हैं, यह जान लेना चाहिए । 'श्रीकृष्णदासस्य' पद में जाति के अभिप्राय से एकवचन का प्रयोग किया गया है । इन वचनों को सुनना क्यों आवश्यक है, यह आपश्री यदाकर्ण्य इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं कि, इन वचनों को सुनने से भक्त में निश्चितता आती है, यह अर्थ है ॥११॥

यह श्रीविद्वल्लेश्वरात्मज श्रीरघुनाथविरचित अन्तःकरणप्रबोध विवरण संपूर्ण हुआ ॥



श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।
श्रीवल्लभाचार्यचरणविरचित

अन्तःकरणप्रबोधः ।

श्रीमन्महानुभावश्रीहरिरायचरणविरचितविवृतिसमेतः ।



अथ श्रीवल्लभाचार्याः कृष्णेनातिदयालुना । निःसाधनजनोद्धृत्यै पुष्टिप्रकटनेच्छुना ॥
स्वास्यरूपाः स्वतस्तेन प्रभुणा प्रकटीकृताः । जीवोद्धाराय विवृतिं चक्रुर्भागवते मुदा ॥

निःसाधन-जिवो उद्धार करवा भाटे पुष्टिभार्ग प्रकट करवाना ईच्छुक अतिदयालु प्रभु-कृष्णअे पोताना भुभारविंद-स्वरूप आचार्यचरणोने प्रकट कर्या, अने त्यारे जिवो उद्धार करवा भाटे आपश्रीअे प्रसन्नतापूर्वक श्रीमद्-भागवतनी विवृति करी। निःसाधन-जीवों का उद्धार करने के लिए पुष्टिभार्ग प्रकट करने के इच्छुक अतिदयालु प्रभु-कृष्ण ने अपने मुखारविंद-स्वरूप आचार्यचरणों को प्रकट किया, और तब जीवों का उद्धार करने के लिए आपश्री ने प्रसन्नतापूर्वक श्रीमद्-भागवत की विवृति की ॥

तथा स्वतन्त्रभजनप्रकारस्योपदेशनम् । ततश्च भगवान्मत्वा स्वमार्गोद्घाटनं हि तैः ॥

आचार्यविप्रयोगं चासहमानोखिलेश्वरः । आज्ञाद्वयमदादेहदेशत्यागैकबोधिकम् ॥

आ प्रकारे आपश्रीअे भगवानने स्वतंत्ररूपथी भगवानो उपदेश पशु आप्यो. अेना पछी ज्यारे भगवानने आचार्यचरणोने विप्रयोग असहनीय थई गयो अने अेभने लाग्युं के हवे श्रीभागवतनो अधिक विस्तार करवाथी मार्गरहस्य भुली जशे तो अेभणे आपश्रीने देह-देश परित्याग करवानी अे आज्ञाअो आपी.

इसी प्रकार आपश्री ने भगवान को स्वतंत्ररूप से भजने का उपदेश भी दिया । इसके पश्चात् जब भगवान को आचार्यचरणों का विप्रयोग असहनीय हो गया और उन्हें लगा कि अब श्रीभागवत का अधिक विस्तार करने से मार्गरहस्य खुल जायेगा, तो उन्होंने आपश्री को देह- देश परित्याग करने की दो आज्ञाएँ दी ।

ततः स्वप्रौढिवशतः करुणावशतोपि च । तद्द्वयोल्लङ्घनं चक्रुः पश्चात्तापस्ततोऽभवत् ॥

दोषस्फूर्त्या हरौ सङ्गविलम्बात्यागजाद्भयात् । अङ्गीकृतिगतेश्चापि धर्मत्यागाच्च दुःसहः ॥

परंतु पोताना भावावेशने कारणे तेभ ज जिवो पर कइशा करवाना हेतुथी पशु अेभणे अंने आज्ञाअोनुं उल्लंघन करी दीधुं. जेनाथी अेभने पछी दुःसह पश्चात्ताप थयो. अेभना मनमां दोषभावा अेना उत्पन्न थई केभके आज्ञा-उल्लंघन करवाथी हरिसंग भगवामां विलंब थयो, अंगीकृति नष्ट थवानो भय थयो, पोताना सेवकधर्मनो त्याग करवानो भय थयो तेभ ज भगवान द्वारा त्याग करी देवानो भय थयो.

परंतु अपने भावावेश के कारण एवं जीवों पर करुणा करने के हेतु से भी उन्होंने दोनों आज्ञाओं का उल्लंघन कर दिया, जिससे उन्हें बाद में दुःसह पश्चात्ताप हुआ । उनके मन में दोषभावना उत्पन्न हुई क्योंकि आज्ञा-उल्लंघन करने से हरिसंग मिलने में विलंब हुआ, अंगीकृति नष्ट हो जाने का भय हुआ, अपने सेवक धर्म को त्याग देने का भय हुआ एवं भगवान द्वारा त्याग दिए जाने का भय हुआ ॥

बालवत्पूर्वमाज्ञप्तः पश्चान्नेति यदब्रवीत् । मां तेनास्थिरवाक्यत्वं हि हरौ दोषस्तदास्फुरत् ॥

हवे आचार्यचरण कहे छे के भगवाने जे अेक भाणकनी जेभ पहलेलां तो भूतण पर प्रकट थवानी आज्ञा आपी, पछी ना पाडी दीधी, तो भगवानना आवा अस्थिरवाक्योने कारणे अने हरिमां ज दोष स्फुरित थया.

जब हरि में दोष स्फुरित हुए तब आपश्री ने निम्नलिखित वचनों द्वारा अपने चित्त का समाधान किया । यहाँ आपश्री ने 'अन्तःकरण' पद का प्रयोग किया है जिससे ज्ञात होता है कि, आपश्री को जो दो भगवद्-आज्ञाएँ हुई, उसका ज्ञान दूसरों को नहीं था ।

ततः समादधुश्चित्तं वचनैः स्फूर्तिमागतैः ॥

अन्तःकरण मद्वाक्यं सावधानतया शृणु ।
कृष्णात्परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ॥ १ ॥

अन्तःकरणपदतो बहिरज्ञानबोधनम् ॥

ज्यारे हरिमां दोष स्फुरित थया त्त्यारे आपश्रीअे निम्नलिखित वचनो द्वारा पोताना चित्तनुं समाधान कर्तुं. अही आपश्रीअे 'अन्तःकरण' पदो प्रयोग कर्तो छे. जेनाथी ज्ञायाय छे के, आपश्रीने जे जे भगवद्-आज्ञाओ थई, अेनुं ज्ञान बीजओने न हतुं.

जब हरि में दोष स्फुरित हुए तब आपश्री ने निम्नलिखित वचनों द्वारा अपने चित्त का समाधान किया । यहाँ आपश्री ने 'अन्तःकरण' पद का प्रयोग किया है जिससे ज्ञात होता है कि, आपश्री को जो दो भगवद्-आज्ञाएँ हुई, उसका ज्ञान दूसरों को नहीं था ।

दोषसम्बन्धतश्चित्ते स्वभिन्नत्वं हि मन्वते । आज्ञोल्लङ्घनतो दोषो भगवद्दोषभावनात् ॥

भगवाननी आज्ञानुं उल्लंघन करवानो दोष, तेमज भगवानमां दोषभावना करवाने कारण चित्तमां दोषसंबंध थई जवाने कारणे अही आचार्यथरण पोताना अन्तःकरणे पोतानाथी बुद्धं मानी रह्या छे अने.....

भगवान की आज्ञा का उल्लंघन करने का दोष एवं भगवान में दोषभावना करने के कारण चित्त में दोषसंबंध हो जाने के कारण यहाँ आचार्यचरण अपने अन्तःकरण को अपने से भिन्न मान रहे हैं और

अत एव तदात्मीयं कर्तुमत्र समाहतिः । अन्यथा प्रौढिदाढ्ये तु सर्वभावाच्च्युतिर्भवेत् ॥

अे ज कारणे ते अन्तःकरणे इरीथी आत्मीय करवा माटे अेनुं समाधान करी रह्या छे नहीतर भावावेश नी अधिकता थई जशे तो समस्त भावोनुं पतन थई जशे.

इसी कारण उस अन्तःकरण को फिर से आत्मीय करने के लिए उसका समाधान कर रहे हैं अन्यथा भावावेश की अधिकता हो जायेगी तो समस्त भावों का पतन हो जायेगा ।

मद्वाक्यमिति वाक्येषु स्वसम्बन्धो निरूपितः । निर्दोषभगवद्भावबोधकत्वात्तु सर्वथा ॥

अत एव समासो हि पदयोरत्र बोधितः । वाक्यमित्येकवचनं सर्वैकार्थबोधनात् ।

अही आचार्यथरणोअे भद्-वाक्यं कहीने आ ग्रंथमां कहेला वाक्योमां पोतानो सीधो संबंध अताव्यो छे केभके आ समस्त वाक्यो अेमना निर्दोष भगवद्-भावना बोधक छे. आ कारण भद्-वाक्य आ अंने पदोने अेक साथे जेडीने कहेवामां आव्युं छे. आ ग्रंथमां कहेला समस्त वाक्यो समस्त पुष्टिमागीयोने अेक ज अर्थनो बोध करावशे; आ अताववा माटे 'वाक्यं' शब्द अेकवचनमां छे.

यहाँ आचार्यचरणों ने मद्वाक्यं कहकर इस ग्रंथ में कहे वाक्यों में अपना सीधा संबंध बताया है क्योंकि ये समस्त वाक्य उनके निर्दोष भगवद्-भाव के बोधक हैं । इसी कारण "मद्-वाक्यं" इन दोनों पदों को एकसंग जोड़ कर कहा गया है । इस ग्रंथ में कहे समस्त वाक्य समस्त पुष्टिमागीयों को एक ही अर्थ का बोध करायेंगे; यह बताने के लिए 'वाक्यं' शब्द एकवचन में है ।

स्ववाक्यस्य दुरूहत्वाद्भावप्रौढस्य चेतसः । अर्थानवगमस्तस्मात्सावधानत्वबोधनम् ।

आचार्यथरणोनुं चित्त हल भावावेशमां छे अने अेमना वाक्य समजवा मुश्केल छे अेथी अेमना वाक्योनो अर्थ समजमां नथी आवतो. अे कारणे तेओ 'सावधानीपूर्वक सांभणो' अेम कही रह्या छे.

आचार्यचरणों का चित्त अभी भावावेश में है और उनके वाक्य समझने दुरूह हैं अतः उनके वाक्यों का अर्थ समझ में नहीं आता । इसी कारण वे 'सावधानीपूर्वक सुनो' यों कह रहे हैं ।

श्रवणोक्त्या सतात्पर्यमर्थावगमनं मतम् । श्रवणेनैव हि स्वीयविचारान्तरवारणम् ।

आपश्रीअे 'सांभणो' आ कहुं छे अेटले अेमना कथननो तात्पर्यसहित अर्थ करीने सांभणवुं जेईअे, आ अर्थ छे. केभके आ प्रकारे सांभणवाथी ज स्वीयजन मनमां उठवावाणा बीज-विचारोनुं निराकरण करी शके छे.

आपश्री ने 'सुनो' यह कहा है अर्थात् उनके कथन का तात्पर्यसहित अर्थ करके सुनना चाहिए, यह अर्थ है । क्योंकि इस प्रकार सुनने से ही स्वीयजन मन में उठने वाले अन्यथा-विचारों का निराकरण कर सकते हैं ।

एतदश्रवणे दोषोपीति विध्यवतारणम् ।

जे तात्पर्यसहित नही सांभणीअे तो दोष पश लागी शके छे.

यदि तात्पर्यसहित नहीं सुनें तो दोष भी लग सकता है ।

पश्चात्तापो द्विधा जातः प्रभुदोषसमागतेः । आज्ञारूपस्वधर्मस्य परित्यागात्स्वदोषतः ।

आचार्यचरणोने जे प्रकारथी पश्चात्ताप थयो, अेक तो अेमण्णे प्रभुमां दोष न्हेया अने ऒीणुं अेमण्णे पोताना दोषने कारणे भगवद्-आज्ञा पालन करवानो पोतानो स्वधर्म छोडी दीधो.

आचार्यचरणों को दो प्रकार से पश्चात्ताप हुआ, एक तो उन्होंने प्रभु में दोष देखे और दूसरा उन्होंने अपने दोष के कारण भगवद्-आज्ञा पालन करने का अपना स्वधर्म त्याग दिया ।

तत्र तु प्रथमं दोषः प्रभौ नास्तीति कथ्यते । तदारोपणतश्चित्ते भ्रान्तत्वमपि चोच्यते ।

हवे आपश्री-प्रभुमां उपर कहेला दोष नथी अने जे आपश्रीअे प्रभुमां दोष आरोपित कर्यां छे तो अे चित्तनी भ्रामकता छे - आ कही रह्या छे.

अब आपश्री प्रभु में उपर कहा गया दोष नहीं है और यदि आपश्री ने प्रभु में दोष आरोपित किए हैं तो वह चित्त की भ्रामकता है - यह कह रहे हैं ।

न हि कृष्णे सदानन्दे दोषसम्भावनोद्भवः । सच्छब्देन यतस्तत्र दोषाभावश्च रूप्यते ।

सदानन्द-कृष्णमां दोषनी संभावना उत्पन्न थई नथी शकती केभके सदानन्द शब्दमां (सत्+आनन्द) प्रयुक्त थयेला सत् शब्दथी आपश्रीअे श्रीकृष्णमां दोषनो अभाव निरूपित कर्यो छे.

सदानन्द-कृष्ण में दोष की संभावना उत्पन्न हो ही नहीं सकती क्योंकि सदानन्द शब्द में (सत्+आनन्द) प्रयुक्त हुए सत् शब्द से आपश्री ने श्रीकृष्ण में दोष का अभाव निरूपित किया है ।

सर्वस्यैव तदात्मत्वान्न परं विद्यते ततः ।

अने श्रीकृष्ण समस्त जिवोना आत्मा छे अेथी अेमनाथी श्रेष्ठ ऒीणुं कांई नथी.

और, श्रीकृष्ण समस्त जीवों की आत्मा हैं अतः उनसे श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है ।

अतो वैषम्यनैर्घृण्ये अपि दोषो न कर्तरि ।

आ कारणे अ्रहसूत्रमां आ कहेवामां आव्युं छे के-भगवान पर विषमता अने निर्दयतानो दोष नहीं लगाववो जेईअे केभके तेओ जिवना कर्मानुसार निष्पक्ष थईने सृष्टिनी रचना करे छे. (बृओ अ्र.सू.२/१/३४)

इसी कारण ब्रह्मसूत्र में यह कहा गया है कि भगवान में विषमता और निर्दयता का दोष नहीं लगाना चाहिए क्योंकि वे जीव के कर्मानुसार निष्पक्ष होकर सृष्टि की रचना करते हैं ।(देखें ब्र०सू०२/१/३४)

नास्तीत्युक्त्या तदन्यस्य सत्ताभावो विबोध्यते ॥

आपश्रीअे नास्ति कहुं छे जेनाथी तेओ अतावी रह्या छे के भगवान-श्रीकृष्णना सिवाय ऒीणु कोई पण्ड देवनी सत्ता नथी.

आपश्री ने नास्ति कहा है, जिससे वह यह बता रहे हैं कि भगवान-श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी भी देव की सत्ता ही नहीं है ।

दैवशब्देन पूज्यत्वं सर्वेषां ज्ञापितं हरौ । तस्यैव च परत्वेन सर्वोत्कृष्टत्वबोधनम् ।

आचार्यचरणोअे दैव शब्दथी आ अताव्युं छे के हरि-श्रीकृष्ण अधाना पूज्य छे अने सर्वश्रेष्ठ होवाने नाते सर्वोत्कृष्ट छे.

आचार्यचरणों ने दैव शब्द से यह बताया है कि हरि-श्रीकृष्ण सभी के पूज्य हैं और सर्वश्रेष्ठ होने के नाते सर्वोत्कृष्ट हैं ।

जगत्पूज्ये भगवति दोषसत्ता कथं भवेत् । अन्येषामपि पूज्यत्वं तद्विभूतित्वतोपि हि ॥

जे भगवाननी समग्र जगत पूज करी रह्युं छे अेमनामां दोष केवी रीते होई शके केभके ऒीणु देवताओ पण्ड पूज्य अे माटे छे केभके तेओ भगवान-श्रीकृष्णनी विभूति छे.

जिन भगवान की समूचा जगत पूजा कर रहा है, उनमें दोष कैसे हो सकता है क्योंकि अन्य देवता भी पूज्य इसलिए हैं क्योंकि वे भगवान-श्रीकृष्ण की विभूति हैं ।

भृगवे हरिणा स्वस्य दोषाभावो विबोधितः । निर्दोषपूर्णगुणता सर्वत्रैव निरूपिता ।

भगवाने भृगु ऋषिने आ अताव्युं छे के अेमनामां दोष नथी (बृओ श्री.भा.१०/८८/८...१२) अेथी भगवाननी निर्दोषपूर्णा गुणता तो सर्वविदित छे न.

भगवान ने भृगु ऋषि को यह बताया ही है कि उनमें दोष नहीं है (देखें श्री०भा०१०/८९/८.१२) अतः भगवान की निर्दोषपूर्ण गुणता ता

सर्वविदित है ही ।

सर्वेषां भाग्यरूपत्वं दैवशब्देन चोदितम् । यथा भाग्यं विना सर्वसाधनं विफलं मतम् ॥

तथा तत्प्रतिकूल्ये न देवानां फलदातृता ।

दैव शब्दનો અર્થ ભાગ્ય પણ થાય છે એથી અહીં દૈવ શબ્દથી આ પણ જણાય છે કે ભગવાન-શ્રીકૃષ્ણ બધાના ભાગ્યરૂપ છે અને જેમ ભાગ્ય ન હોય તો બધા સાધન વિફલ થઈ જાય છે તેવી જ રીતે જે શ્રીકૃષ્ણ પ્રતિકૂલ હોય તો દેવતા પણ ફલદાન નથી કરી શકતા. દૈવ શબ્દ का अर्थ भाग्य भी होता है अतः यहाँ दैव शब्द से यह भी ज्ञात होता है कि भगवान-श्रीकृष्ण सभी के भाग्यरूप हैं और जैसे भाग्य न हो तो समस्त साधन विफल हो जाते हैं, वैसे ही यदि श्रीकृष्ण प्रतिकूल हों तो देवता भी फलदान नहीं कर सकते ।

अत एवास्मदाचार्यैर्ग्रन्थे सेवाफलाभिधे ॥

तदान्यदेवसेवापि व्यर्थेति विनिरूपितम् । प्रायश्चित्तानि चीर्णानीत्यादिवाक्यानि सन्ति हि ।

આ જ કારણે અમારા આચાર્યચરણોએ સેવાફલગ્રંથમાં “જ્યારે ભગવાન પ્રતિબંધ કરે છે ત્યારે અન્ય દેવતાઓની સેવા કરવી પણ સફલ સિદ્ધ ન થઈને વ્યર્થ જ થઈ જાય છે. (સેવાફલ-વિવૃત્તિપ્રકાશ)” આ પ્રકારે નિરૂપિત કર્યું છે. અને આ જ સંદર્ભમાં શ્રીમદ્-ભાગવતમાં “હે પરીક્ષિત! જેમ શરાબથી ભરેલા ઘડાને નદીઓ પવિત્ર નથી કરી શકતી તેમ જ વારંવાર પ્રાયશ્ચિત્ત કરવા પર પણ ભગવાન શ્રીકૃષ્ણથી વિમુખ મનુષ્ય પવિત્ર થવામાં અસમર્થ છે. (શ્રી. ભા. ૬/૧/૧૮)” એમ કહેવામાં આવ્યું છે. इसी कारण हमारे आचार्यचरणों ने सेवाफलग्रंथ में “जब भगवान प्रतिबंध करते हैं तब अन्य देवताओं की सेवा करनी भी कागर सिद्ध न होकर व्यर्थ ही हो जाती है (सेवाफल-विवृतिप्रकाश)” इस प्रकार से निरूपित किया है । और इसी संदर्भ में श्रीमद्-भागवत में “हे परीक्षित! जैसे शराब से भरे घड़े को नदियाँ पवित्र नहीं कर सकती, वैसे ही बार-बार प्रायश्चित्त करने पर भी भगवान-श्रीकृष्ण से विमुख मनुष्य पवित्र होने में असमर्थ है (श्री०भा०६/१/१८)” यह कहा गया है ।

स्वसम्बन्धेन सर्वेषां फलदे दोषवारके । स्वरूपतोपि निर्दोषे कथं दोषनिरूपणम् ।

એથી ફલદાયક શ્રીકૃષ્ણ તો એમનાથી સંબંધ થવા માત્રથી જ જીવના સમસ્ત દોષ દૂર કરી દે છે અને સ્વયં સ્વરૂપતઃ પણ નિર્દોષ છે, તો એમનામાં દોષ કેમ માની શકાય ?
अतः फलदायक-श्रीकृष्ण तो उनसे संबंध होने मात्र से जीव के समस्त दोष दूर कर देते हैं और स्वयं स्वरूपतः भी निर्दोष हैं, सो उनमें दोष कैसे माना जा सकता है ?

ननु भुव्यवतारे तु क्रोधादि दृश्यते हरौ । दैत्यमारणतो नन्तयुवतीनां परिग्रहात् ॥

क्रोधोपि देवस्येत्यादिवाक्यं च खलु दृश्यते । इति चेन्न हरौ दोषः प्रतीत्या न हि वस्तुतः ।

પરંતુ જ્યારે ભગવાને ભૂમિ પર અવતાર લીધો હતો ત્યારે દૈત્યોના વધ કરવામાં એમને ક્રોધ આવ્યો, એ પણ જોવામાં આવે છે. આ પ્રકારે એમણે અનેક યુવતીઓ સાથે વિવાહ પણ રચાવ્યો. સાથે સાથે ભગવાન માટે એમ પણ કહેવાય છે કે “ભગવાનનો ક્રોધ પણ વરદાનની સમાન જ હોય છે” જેનાથી જણાય છે કે પ્રભુને ક્રોધ પણ આવે છે. આ બધી વાતોથી આ સિદ્ધ થાય છે કે ભગવાનમાં પણ દોષ છે-જે એવી શંકા હોય તો જાણી લો કે હરિમાં દોષ દેખાય એ તો પ્રતીતિ માત્ર છે, એમાં વાસ્તવિકતા નથી.

પરંતુ જબ ભગવાન ને ભુવિ પર અવતાર લિયા થા, તબ દૈત્યોં કા વધ કરને મેં उनको क्रोध आता भी दिखाई देता है । इसी प्रकार उन्होंने अनेक युवतियों से विवाह भी रचाया । साथ-ही-साथ भगवान के लिए “भगवान का क्रोध भी वरदान के समान ही होता है” इस प्रकार से कहा जाता है, जिससे ज्ञात होता है कि प्रभु को क्रोध भी आता है । इन सभी बातों से यह सिद्ध होता है कि भगवान में भी दोष हैं - यदि ऐसी शंका हो तो जान लो कि हरि में दोष दिखाई देने तो प्रतीति मात्र है, उसमें वास्तविकता नहीं है ।

विचार्यमाणे क्रोधादि हितं पर्यवसानतः । मुक्तिदानान्निजानन्ददानात्तदधिकारतः ॥

જો જરા વિચાર કરીએ તો ભગવાનનો ક્રોધ પણ અંતે તો જીવના હિતમાં જ પરિણિત થાય છે. કેમકે ભગવાન જીવને એના અધિકાર અનુસાર મુક્તિ આપે છે અથવા તો નિજાનંદ.
यदि तनिक विचार करें तो भगवान का क्रोध भी अंततोगत्वा जीव के हित में ही परिणित होता है । क्योंकि भगवान जीव को उसके अधिकारानुसार मुक्ति देते हैं या फिर निजानंद ।

दोषा एव न जीवैस्तु प्रयुक्तास्तं स्पृशन्त्यपि । अभिचारा वैष्णववदतस्तद्दोषवर्जितम् ।

शुभ ने भगवान्‌मां दोष लगावे, तो પણ ते दोष भगवान्‌ने स्पर्श પણ नथी करी शकता. जेवी रीते भारणमंत्रोच्चाटन वगैरे तंत्रमंत्र अेक वैष्णवने स्पर्श नथी करी शकता. अे कारणथी आचार्यचरण भगवान्‌ने दोषवर्जितं कही रह्या छे. जीव यदि भगवान्‌में दोष लगाए तो भी वे दोष भगवान्‌को स्पर्श भी नहीं कर सकते हैं, जैसे मारण-मंत्रोच्चाटन आदि तंत्रमंत्र एक वैष्णव को स्पर्श नहीं कर सकते हैं। इसी कारण आचार्यचरण भगवान्‌को दोषवर्जित कह रहे हैं।

एवं सतीदृशे नाथे दोषारोपणतः स्वतः । पूर्वं जातोपि चोत्कर्षो नश्येत्तदपमानतः ॥

स्वामिसम्बन्धराहित्याद्भवेत्तु महती क्षतिः । इति चेत्तत्समाधानमग्रिमश्लोकरूपितम् ।

चाण्डाली चेद्राजपत्नी जाता राज्ञा च मानिता ।

कदाचिदपमानेपि मूलतः का क्षतिर्भवेत् ॥

हवे ने अेवा आपणा स्वामी पर પણ दोषारोपण करवामां आवे, तो पूर्वमां भगवद्-समर्पणथी उत्पन्न थयेलुं आपणुं उत्कर्ष अेमना आ अपमानने कारणे पोते न नष्ट थई नशे. अने आ प्रकारे ने शुभ पोताना स्वामी-भगवान्‌थी संबंध थया वगैरे रही नथ तो अेनी अहु क्षति थशे-अेवी शंका मनमां थया पर आचार्यचरण आगणना श्लोक द्वारा समाधान करी रह्या छे.

अतः यदि ऐसे हमारे स्वामी पर दोषारोपण किए गये तो पूर्व में भगवद्-समर्पण से उत्पन्न हुआ हमारा उत्कर्ष उनके इस अपमान के कारण स्वतः ही नष्ट हो जायेगा और इस प्रकार यदि जीव अपने स्वामी-भगवान्‌से संबंध हुए बिना रह जाय, तो उसकी बहुत क्षति होगी-ऐसी शंका मन में होने पर आचार्यचरण अगले श्लोक द्वारा समाधान कर रहे हैं।

संभावितस्य चाकीर्तिरिति गीतोक्तवाक्यतः । उत्कृष्टस्य पुरा पश्चादपकर्षे क्षतिर्भवेत् ॥

भगवद्-गीतामां कहेला “अेक सम्मानित व्यक्ति माटे अपयश तो मृत्युथी પણ वधारे कष्टदाथी छे. (भ.गी.२/३४)” आ वाक्य अनुसार पहेलां उत्कर्ष थयो ह्ये अने पछी अपकर्ष थई नथ तो मोटी ठेस पहँचे छे अे माटे.....

भगवद्-गीता में कहे “एक सम्मानीय व्यक्ति के लिए अपयश तो मृत्यु से भी अधिक कष्टकारी है (भ०गी०२/३४)” इस वाक्यानुसार पहले उत्कर्ष हुआ हो और बाद में अपकर्ष हो जाय, तो बड़ी ठेस पहुँचती है, इसलिए

पूर्वं स्वरूपे दृष्टान्तस्तथा हीनो निरूपितः । तादृशस्य तथोत्कर्षे मूलं तु भगवान्मतः ।

अही आचार्यचरण चांडालीना दृष्टान्त द्वारा शुभना समर्पणथी पूर्वना स्वरूपने हीन अतावी रह्या छे अने अेवा हीन-शुभना उत्कर्ष थयामां भूण कारण तो भगवान्‌न मानवामां आव्या छे केभके.....

यहाँ आचार्यचरण चांडाली के दृष्टान्त द्वारा जीव के समर्पण से पूर्व के स्वरूप को हीन बता रहे हैं और ऐसे हीन-जीव का उत्कर्ष होने में मूल कारण तो भगवान्‌ही माने गये हैं क्योंकि

पुष्टिमार्गवृत्तौ नैव जीवोत्कर्षो नियामकः । भक्तिहंसे तथा चोक्तं प्रभुभिर्विद्वलेश्वरैः ॥

पुष्टिमार्गमां शुभनी उत्कृष्टता कोई अेवो मुद्दो नथी, जेनाथी अेनुं वरण थाय. आ वात भक्तिहंसमां प्रभुचरणोअे “शुभनी पोतानी उत्कृष्टता પણ भगवद्-प्राप्तिमां निष्प्रयोअक सिद्ध थाय छे” आ वाक्य द्वारा कही छे.

पुष्टिमार्ग में जीव की उत्कृष्टता कोई ऐसा मुद्दा नहीं है, जिससे उसका वरण होगा। यही बात भक्तिहंस में प्रभुचरणों ने “जीव की अपनी उत्कृष्टता भी भगवद्-प्राप्ति में निष्प्रयोजक सिद्ध होती है” इस वाक्य द्वारा कही है।

पूर्वं जीवगतोत्कर्षोप्यप्रयोजक इत्यपि । मूलतस्त्वपमाने तु न हीनस्य क्षतिर्भवेत् ॥

अपमानजदुःखं तु क्रियते स्वविचारतः । दास्यं स्मर मनः स्वीयं दासानां नापमाननम् ।

अेथी आचार्यचरणनुं कहेलुं अे छे के, जे पहेलाथी हीन छे, अेनुं अपमान थया पर પણ शुं क्षति थशे ? आ तो आपणे आपणा विचारथी न अपमान द्वारा दुःख करवा लागीअे छीअे. अेथी हे मन ! पोतानी दासतानुं स्मरण कर, केभके दासनुं मान शुं अने अपमान शुं?

अतः आचार्यचरणों का कथन यह है कि जो पहले ही से हीन हैं; उनकी अपमान होने पर भी क्या क्षति होगी ? यह तो हम अपने विचार से ही अपमान द्वारा दुःख करने लगते हैं। अतः हे मन! अपनी दासता का स्मरण कर, क्योंकि दास का मान क्या और अपमान क्या?

चेदित्यनेन दौर्लभ्यमङ्गीकारे निरूपितम् । जातं यद्राजपत्नीत्वं तन्न याति कथञ्चन ॥

अन्यैर्वा सा न दुर्वाक्यैर्वक्तुं शक्या बलान्वितैः । न वा तदुपभोगोन्यैः पश्चात्कर्तुं हि शक्यते ।

આચાર્યચરણોએ ચેત્ શબ્દ કહ્યો છે. (ચેત્ શબ્દનો અર્થ થાય છે - જો) જેનાથી જણાય છે કે પ્રભુ દ્વારા અંગીકાર થવું બહુ દુર્લભ છે અને અહીં ચાંડાલી-રાજપત્ની ના ઉદાહરણમાં આ સમજવું જોઈએ કે એકવાર ચાંડાલી રાજપત્ની બની ગઈ પછી એનું રાજપત્નીપદ તો મટવાનું નથી. અને બીજી કોઈપણ વ્યક્તિ કેટલી પણ બળવાન હોવા છતાંય એને દુર્વાક્ય નથી કહી શકતી અને રાજાથી અતિરિક્ત બીજી કોઈ અન્ય વ્યક્તિ એનો ઉપભોગ પણ નથી કરી શકતી.

આચાર્યચરણોં ને ચેત્ શબ્દ કહા હૈ (ચેત્ શબ્દ કા અર્થ હોતા હૈ - યદિ) જિસસે જ્ઞાત હોતા હૈ કિ પ્રભુ દ્વારા અંગીકાર કિયા જાના બડા દુર્લભ હૈ । ઓર યહાં ચાણ્ડાલી-રાજપત્ની કે ઉદાહરણ મેં યહ સમજના ચાહિયે કિ, ઇક બાર ચાણ્ડાલી રાજપત્ની બન ગઈ, ફિર ડસકા રાજપત્ની-પદ તો મિટને વાલા નહીં હૈ । ઓર મી, દૂસરે કઈ વ્યક્તિ બલવાન હોને પર મી ડસે દુર્વાક્ય નહીં કહ સકતે હૈ ઓર ન હી રાજા કે અતિરિક્ત કોઈ અન્ય વ્યક્તિ ડસકા ઉપભોગ હી કર સકતા હૈ ।

અપમાન વિલમ્બસ્તુ વિરહાનુભવાર્થકઃ । બહિઃ સંવેદને પશ્ચાદૈન્યભાવપ્રસાધકઃ ॥

એથી અહીં એ સમજવું જોઈએકે, ભગવાન દ્વારા અપમાન થવા પર ભગવદ્-પ્રાપ્તિમાં થવાવાળો વિલંબ ભગવદ્-વિરહનો અનુભવ કરાવશે અને પછી એ જ વિરહ મનમાં દૈન્યભાવ સિદ્ધ કરશે.

અતઃ યહાં યહ સમજના ચાહિયે કિ, ભગવાન કે અપ્રસન્ન હોને પર ભગવદ્-પ્રાપ્તિ મેં હોને વાલા વિલંબ ભગવદ્-વિરહ કા અનુભવ કારણા ઓર પશ્ચાત્ યહી વિરહ મન મેં દૈન્યભાવ સિદ્ધ કરેગા ।

તદનન્તરમન્યેપિ માતૃત્વમતયો ધ્રુવમ્ । માનયન્તિ યતસ્ત્વાં હિ નાપકર્ષસ્તતો મતઃ ।

ચાંડાલીનું રાજા દ્વારા અપમાન થઈ જાય તો પણ બીજા લોકો તો એને રાજમાતાની જ દૃષ્ટિથી જુએ છે એથી આચાર્યચરણ સમજાવે છે કે, હે અન્તઃકરણ! તારું પણ અપકર્ષ નથી થયું.

ચાણ્ડાલી કા રાજા દ્વારા અપમાન હો જાને પર મી અન્ય દૂસરે વ્યક્તિ તો ડસે રાજમાતા કી હી દૃષ્ટિ સે દેખતે હૈ અતઃ આચાર્યચરણ સમજાતે હૈ કિ, હે અન્તઃકરણ! તુમ્હારા મી અપકર્ષ નહીં હુઆ હૈ ।

કદાચિદિત્યનેનાત્ર નિત્યતા નાપમાનને । મનઃપૂર્વકૃતિત્વેન નિત્યતાઙ્ગીકૃતૌ હરેઃ ॥

અને, એ સમજો કે અહીં આચાર્યચરણોએ કદાચિત્ કહ્યું છે જેનાથી જણાય છે કે ભગવાન હંમેશા જ અપ્રસન્ન થઈ જતા હોય છે એવું પણ નથી. ભગવાન જીવ ને મન થી તો પહેલાં જ સ્વીકાર કરી ચુક્યા છે તેથી હરિ દ્વારા જીવનો અંગીકાર થઈ જવો તો નિત્ય છે.

ઓર, યહ સમજિયે કિ યહાં આચાર્યચરણોં ને કદાચિત્ કહા હૈ જિસસે જ્ઞાત હોતા હૈ કિ, ભગવાન હમેશા હી અપ્રસન્ન હો જાતે હોં ઇસા મી નહીં હૈ । ભગવાન જીવ કો મન સે તો પહેલે હી સ્વીકાર કર ચુકે હૈ અતઃ હરિ દ્વારા જીવ કા અંગીકાર કિયા જાના તો નિત્ય હૈ ।

નાપમાને યતસ્તત્ર હરેરિચ્છા ન તાદૃશી । શિક્ષાર્થ ઢણ્ડનાર્થ વા કુરુતે ન નિજેચ્છયા ।

અપમાન કરવામાં નિત્યતા નથી કેમકે હરિની ઈચ્છા અપમાન કરવાની નથી હોતી પરંતુ શિક્ષા દેવા અથવા તો દંડ દેવા માટે એ જીવનું અપમાન કરે છે, સ્વેચ્છાથી નહીં.

અપમાન કરને મેં નિત્યતા નહીં હૈ ક્યોંકિ હરિ કી ઇચ્છા અપમાન કરને કી નહીં હોતી અપિતુ શિક્ષા દેને અથવા તો દંડ દેને કે લિયે વે જીવ કા અપમાન કરતે હૈ, સ્વેચ્છા સે નહીં ।

ઇચ્છાપૂર્વકૃતિત્વે હિ ભવેદેવ હિ નિત્યતા । ઢણ્ડોપ્યનુગ્રહઃ પ્રોક્તઃ સર્વત્રૈવાત એવ હિ ॥

જો ભગવાન ઈચ્છાપૂર્વક જીવનું અપમાન કરત તો અપમાન કરવું એમનો નિત્યધર્મ હોત એટલે સમજવું જોઈએ કે એમનું દંડ આપવું પણ એમની કૃપા જ કહેવામાં આવી છે.

યદિ ભગવાન ઇચ્છાપૂર્વક જીવ કા અપમાન કરતે તો અપમાન કરના ડનકા નિત્યધર્મ હોતા અતઃ સમજના ચાહિયે કિ ડનકા દંડ દેના મી ડનકી કૃપા હી કહી ગઈ હૈ ।

અપિ શબ્દેન તસ્યાપિ માનસામ્યં નિરૂપિતમ્ ।

અપિ શબ્દથી જણાય છે કે, જીવ ચાંડાલીતુલ્ય હોવા પછી પણ સન્માનનીય તો છે જ. ('અપિ' શબ્દનો અર્થ થાય છે 'પણ' સર્વપ્રથમ મૂળશ્લોક નો અર્થ સમજાવે. આચાર્યચરણ કહે છે 'કદાચિદપમાનેપિ' અર્થાત્ ક્યારેક અપમાન પણ થઈ જાય, તો પણ.

એથી અહીં પણ/અપિ શબ્દ પ્રયુક્ત કરવાની પાછળ અર્થ આ છુપાયો છે કે એમ તો ચાંડાલી હોવા છતાં પણ રાજા એનું સન્માન જ કરે છે પરંતુ ક્યારેક સમજો કે અપમાન પણ કરી દે, તો એની શું ક્ષતિ થવાની છે? ટીકાકાર આ જ વાતને બતાવવા માગે છે કે 'પણ'

शब्दने प्रयुक्त करवुं क्यारेक क्यारेक करवाभां आवेला अपमानने भतावे छे परंतु वास्तवभां तो धरुं करीने अेनुं सम्मान न करवाभां आवे छे, आ अर्थ छे.)

अपि शब्द से ज्ञात होता है कि, जीव चाण्डालीतुल्य होने के बाद भी सम्माननीय तो है ही। ('अपि' शब्द का अर्थ होता है 'भी'। सर्वप्रथम मूलश्लोक का अर्थ समझें। आचार्यचरण कहते हैं - कदाचिदपमानेपि अर्थात् कदाचित् अपमान भी हो जाय, तो भी। अतः यहाँ भी/अपि शब्द प्रयुक्त करने के पीछे अर्थ यह लुपा है कि वैसे तो चाण्डाली होने पर भी राजा उसका सम्मान ही करता है परंतु कदाचित् मानो कि कभी अपमान भी कर दे, तो उसकी क्या क्षति होनी है। टीकाकार इसी बात को बताना चाह रहे हैं कि 'भी' शब्द को प्रयुक्त करना कभी-कभार किए जाने वाले अपमान को बता रहा है परंतु वास्तव में तो बहुधा उसका सम्मान ही किया जाता है, यह अर्थ है।)

एवं वाक्यैर्बोधयित्वा दृष्टान्तेन च बोधनम् । क्रियते दृढता यस्मात्कृतबोधस्य सिध्यति ।

आ प्रकारना वाक्यो द्वारा बोध करावीने हवे आचार्यचरण अेभना पोताना दृष्टांत द्वारा बोध करावी रह्या छे नेनाथी अेभनो करायेलो बोध दृढ थाय छे.

इस प्रकार के वाक्यों द्वारा बोध करा कर अब आचार्यचरण अपने दृष्टांत द्वारा बोध करा रहे हैं जिससे उनका कराया हुआ बोध दृढ होता है।

समर्पणादहं पूर्वमुत्तमः किं सदा स्थितः ।

का ममाधमता भाव्या पश्चात्तापो यतो भवेत् ॥ ३ ॥

अहं समर्पणात्पूर्वमुत्तमः किं स्थिता मनः ॥ यतो दोषा निवृत्तास्तु सर्वेषां तत्समर्पणात् ।

आ श्लोकभां आपत्री आज्ञा करे छे के-हे मन ! शुं हुं भगवद्-समर्पण पहलेलां उत्तम हतो? केभके समस्त लोवोना दोष तो भगवद्-समर्पणथी न निवृत्त थाय छे.

इस श्लोक में आपत्री आज्ञा करते हैं कि - हे मन ! क्या मैं भगवद्-समर्पण से पहले उत्तम था ?? क्योंकि समस्त जीवों के दोष तो भगवद्-समर्पण से ही निवृत्त होते हैं।

सदत्यनेन हृदये तदावेशात्कचित्कचित् ॥ जाताप्युत्तमता नैव निरन्तरमभून्मयि ।

आचार्यचरणोअे अही पोतानाथी आ प्रश्न क्यो छे के, समर्पण क्योनी पहलेलां हुं सदा उत्तम हतो? अेथी 'सदा' पद वापरवाथी आ सिद्ध थाय छे के आपत्रीनुं तात्पर्य अे छे के भगवद्-समर्पणनी पहलेलां हृदयभां क्यारेक क्यारेक भगवदावेश होवाने कारणे उत्तमता पण आवती हती परंतु निरंतर तो क्यारेय नथी रही.

आचार्यचरणों ने यहाँ अपने-आप से यह प्रश्न किया है कि, समर्पण करने से पूर्व क्या मैं सदा उत्तम था ? अतः 'सदा' पद प्रयुक्त करने से यह सिद्ध होता है कि आपत्री का तात्पर्य यह है कि भगवद्-समर्पण के पहले हृदय में कभी-कभी भगवदावेश होने के कारण उत्तमता भी आती थी परंतु निरंतर तो कभी नहीं रही।

यथा श्रावणशुल्कैकादश्यां कृष्णे पुरःस्थिते ॥

साक्षात्समर्पणे सर्वोत्तमत्वं न तथा पुरा ।

अटले के नेम श्रावण सुद अेकादशीने दिवसे न्यारे श्रीकृष्ण मारी समक्ष प्रकट थया अने त्यारे साक्षात् समर्पण करवा पर ने सर्वोत्तमता माराभां आवी अे पहलेलां नहोती- आ आचार्यचरणोनुं तात्पर्य छे.

अर्थात् जैसे श्रावण-शुल्क एकादशी के दिन जब श्रीकृष्ण मेरे समक्ष प्रकट हुए और तब साक्षात् समर्पण करने पर जो सर्वोत्तमता मुझमें आई, वह पहले नहीं थी-यह आचार्यचरणों का तात्पर्य है।

नन्वास्यरूपाचार्याणां कथनं नैव युज्यते

ईदृशं कृष्णरूपत्वात्सर्वस्योत्तमता यतः ।

अही अेवी शंका नहीं करवी के आचार्यचरण तो प्रभुना मुभारविंद-स्वरूप छे अेथी अेभनी सर्वोत्तमताना विषयभां शुं विचार करवो? केभके आपत्री तो अेवा रसात्मक तेमन भगवद्-स्वरूप होवाने कारणे अधी रीते उत्तम छे ??.....

यहाँ ऐसी शंका न करें कि आचार्यचरण तो प्रभु के मुरवारविंद-स्वरूप हैं अतः उनकी सर्वोत्तमता के बारे में क्या विचार करना ? क्योंकि आपत्री तो ऐसे रसात्मक एवं भगवद्-स्वरूप होने के कारण सभी प्रकार से उत्तम हैं

इति चेन्न रसात्मत्वात्तत्स्वरूपं च तत्तथा ॥

यथा भगवतो लीलारसानुभवसिद्धये । मानिनीषु तथारूपं प्रह्वं तादृग्वचोपि हि ॥

तथावतारे भक्त्याख्यरसानुभवहेतुकम् । रूपं तथा वचश्चापि स्वाचार्यचरणोदितम् ।

એવી શંકા નહીં કરવી કેમકે ભગવાનના લીલારસના અનુભવની સિદ્ધિ માટે જેમ ગોપિકાઓ પ્રભુની આગળ વિનમ્ર બની અને એમણે પ્રભુને એવા જ વિનમ્રતાપૂર્વક વચન કહ્યા હતા; તેવી જ રીતે અહીં પણ આચાર્યચરણ પ્રભુના મુખારવિદ સ્વરૂપનો અવતાર લઈને ભક્તિરસનો અનુભવ લેવાને માટે પોતાના આ પ્રકારના દૈન્યસ્વરૂપ અને દૈન્યવાણી પ્રકટ કરી રહ્યા છે.

ऐसी शंका मत करिए क्योंकि भगवान के लीलारस के अनुभव की सिद्धि के लिए जैसे गोपिकाएँ प्रभु के आगे विनम्र हुईं एवं उन्होंने प्रभु से वैसे ही विनम्रतापूर्वक वचन कहे थे; वैसे ही यहाँ भी आचार्यचरण प्रभु के मुखारविंदस्वरूप का अवतार लेकर भक्तिरस का अनुभव लेने के लिए अपना इस प्रकार का दैन्यस्वरूप एवं दैन्यपूर्ण वाणी प्रकट कर रहे हैं ।

अतो रसात्मके रूपे न कार्यः संशयस्तथा । यतो रसस्वरूपं हि यत्र यादृक् तथैव तत् ॥

આથી એમના આવા રસાત્મક-સ્વરૂપમાં આ પ્રકારના સંશય નહીં કરવા જોઈએ કેમકે રસસ્વરૂપ જ્યાં જેવી રીતે પ્રકટ થશે, વાણી-રૂપ વગેરે પણ તેવા જ હશે.

अतः आचार्यचरणों के ऐसे रसात्मक-स्वरूप में इस प्रकार का संशय नहीं करना चाहिए क्योंकि रसस्वरूप जहाँ जिस प्रकार से प्रकट होगा, वाणी-रूप इत्यादि भी वैसे ही होंगे ।

किञ्चाधुना चाधमता का वा भाव्या मम त्वया । यतोधमत्वत्तश्चित्त पश्चात्तापा भवेत्तव ।

તેથી આપશ્રી અહીં આજ્ઞા કરે છે કે-હે મારું ચિત્ત! જ્યારે સમર્પણની પહેલાં પણ હું ઉત્તમ ન હતો તો હવે આ સમયે તને એવી કઈ અધમતાની ભાવના કરવી જોઈએ, જેનાથી તને પશ્ચાત્તાપ થાય?

सो आपश्री यहाँ आज्ञा करते हैं कि - हे मेरे चित्त ! जब समर्पण से पूर्व ही मैं उत्तम नहीं था तो अब इस समय तुम्हें ऐसी कौन सी अधमता की भावना करनी चाहिए, जिससे कि तुम्हें पश्चात्ताप हो ?

ननु सत्यं तथाप्येष कृष्णः सर्वोत्तमः स्वतः । कर्तुं चापि तथाऽकर्तुमन्यथा कर्तुमीश्वरः ॥

अतः कदाचिद्वरणं कुर्याच्चेदन्यथा तदा । का गतिः कुत्र गच्छामि गत्वा वान्यं कमाश्रये ॥

इयं चिन्ता न कर्तव्या-

ભલે આ બધું કાંઈ સત્ય છે પરંતુ કૃષ્ણ તો સર્વોત્તમ છે અને કર્તુમ્ અકર્તુમ્ અન્યથાકર્તુમ્ સમર્થ ઈશ્વર છે એથી શું ખબર મારું વરણ કરશે કે નહીં ? જો નહીં કરે તો મારી શી ગતિ થશે? ક્યાં જઈશ અથવા તો કોનો આશ્રય કરીશ? એવી ચિંતા નહીં કરવી જોઈએ- આ આચાર્યચરણ આગળના શ્લોક દ્વારા કહી રહ્યા છે.

भले ये सभी कुछ सत्य है परंतु कृष्ण तो सर्वोत्तम हैं और कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम् समर्थ ईश्वर हैं अतःक्या पता मेरा वरण करेंगे भी या नहीं ? यदि नहीं किया तो मेरी क्या गति होगी ? कहाँ जाऊँगा अथवा तो किसका आश्रय करूँगा ? - ऐसी चिन्ता नहीं करनी चाहिए , यह आचार्यचरण अग्रिम श्लोक द्वारा कह रहे हैं ।

सत्यसङ्कल्पतो विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यति ।

आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहन्यथा भवेत् ॥ ४ ॥

सत्यसङ्कल्पता हरिः । स्वाङ्गीकृतिं कृपापूर्णां न कुर्यादन्यथा क्वचित् ।

આચાર્યચરણ કહે છે કે હરિ સત્યસંકલ્પી છે અને કૃપાપૂર્ણ છે એથી પોતાના દ્વારા કરેલા અંગીકારને બગડવા નહીં દે.

आचार्यचरण कहते हैं कि हरि सत्यसंकल्पी हैं और कृपा-पूर्ण हैं अतः अपने द्वारा की गई अंगीकृति को बिगड़ने नहीं देंगे ।

केषां सत्या कृतिः केषां वाक् सत्या न विचारितम् । विचारितं हरेः सत्यमतस्तकथनेन्यथा ॥

कदाचिद्दासदोषेण नान्यथा तद्विचारितम् ।

આ વાતનો વિચાર નહીં કરો કે-કોઈની કૃતિ સત્ય હોય છે કોઈની વાણી-કેમકે હરિએ જે કોઈ પણ વસ્તુનો વિચાર કર્યો છે એ સત્ય જ હોય છે એથી આપશ્રીએ જે અહીંયા 'તુ' શબ્દનો પ્રયોગ કર્યો છે, એનાથી એ જણાય છે કે દાસના દોષ દેખાઈ જવા પર પણ તેઓ એનાથી અન્યથા નહીં કરશે જે એમણે એના હિતમાં વિચારી રાખ્યું છે.

इस बात का विचार मत करो कि - किसी की कृति सत्य होती है और किसी की वाणी - क्योंकि हरि ने जिस-किसी भी वस्तु का विचार किया

है वह सत्य ही होता है अतः आपश्री ने जो यहाँ 'तु' शब्द का प्रयोग किया है, उससे यह ज्ञात होता है कि दास के दोष दिखाई देने पर भी वह उससे अन्यथा नहीं करेंगे जो उन्होंने उसके हित में विचार रखा है।

अतो वचःश्रुतौ नैवं विधेयं भयमन्यथा ॥

विष्णुः सर्वत्र सत्त्वेन रक्षकः कथमन्यथा । करिष्यति यतो रक्षा साधारण्या कृतिः प्रभोः ।

प्रभुनी वाणी तो वेदवाक्य छे अथी आ प्रकारनो भय नहीं राभवो जेईअे. विष्णु तो सर्वव्यापी छे अने रक्षक छे अथी अन्नुगतुं डेवी रीते शके केभके रक्षा करवी तो प्रभुनी साधारण कृति छे.

प्रभु की वाणी तो वेदवाक्य हैं अतः इस प्रकार का भय नहीं रखना चाहिए। विष्णु तो सर्वव्यापी हैं और रक्षक हैं अतः अन्यथा कैसे कर सकते हैं क्योंकि रक्षा करनी तो प्रभु की साधारण कृति है।

तशब्देन न भक्तेषु क्वचिदप्यन्यथा कृतिः । करणं वाप्यकरणं सुखार्थोस्तु विवृद्धये ।

'तु' शब्दथी तो आ ज्ञाय छे के भक्तना प्रति तो तेओ क्यरेय पण अन्नुगतुं नहीं करे. प्रभुनुं कांई पण करवुं अथवा न करवुं पण अंते तो भक्तना सुभ भाटे अने अनी समृद्धि भाटे होय छे.

'तु' शब्द से तो यह ज्ञात होता है कि भक्त के प्रति तो वे कभी भी अन्यथा नहीं करेंगे। प्रभु का कुछ भी करना, या ना करना भी अंततोगत्वा भक्त के सुख के लिए और उसकी समृद्धि के लिए होता है।

नन्वेवं चेत्स्वतन्त्रत्वं किं दासानां न बाधकम् । स्वतन्त्रा गतचिन्तास्तु कुर्युराज्ञाविलोपनम् ॥

तथासति महान् दोषस्तदर्थमिह चोच्यते । आज्ञैव कार्या दासेन न प्रश्नो न विचारणम् ।

परंतु जे अंते कही देवाभां आवे के, दोष होवा पर पण प्रभु ज्ञानो अंगीकार करे ज छे अने अनी अन्यथा गति नथी करता तो सेवक तो स्वतंत्र थई जशे ? तो शुं आ प्रकारनी स्वच्छंदता अना भाटे बाधक सिद्ध नहीं थाय? केभके आ प्रकारे स्वतंत्र अने चिंतामुक्त थई जवाथी ते भगवाननी आज्ञानुं पण उल्लंघन करी भेसशे अने आ तो महान दोष थई जशे-आ शंकांनुं समाधान करवाने भाटे आपश्री अहीया आज्ञैव कार्या इत्यादि शब्दथी कही रह्या छे अटले के प्रभु-आज्ञाना संदर्भमां दासे न कोई प्रश्न करवो जेईअे, न कोई विचार परंतु आज्ञानुं पालन ज करवुं जेईअे

परंतु यदि ऐसा कह दिया जाय कि, दोष होने पर भी प्रभु जीव का अंगीकार करते ही हैं और उसकी अन्यथागति नहीं करते तो सेवक तो स्वतंत्र हो जायेंगे और क्या इस प्रकार की स्वच्छंदता उनके लिए बाधक सिद्ध न होगी ? क्योंकि इस प्रकार से स्वतंत्र और चिंतामुक्त हो जाने से वे भगवान की आज्ञा का भी उल्लंघन कर बैठेंगे और यह तो महान दोष हो जायेगा-इस शंका समाधान करने के लिए आपश्री यहाँ आज्ञैव कार्या इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं अर्थात् प्रभु-आज्ञा के संदर्भ में दास को न कोई प्रश्न करना चाहिए न कोई विचार अपितु आज्ञा का पालन ही करना चाहिए।

एवकारेण धर्माणामाज्ञात्वेनैव वै कृतिः । कार्यत्वावश्यकत्वार्थप्रत्ययान्तपदोक्तिः ॥

अेव शब्दथी आचार्यचरणोअे अे अताव्युं छे के सेवक-धर्म तो प्रभुनी आज्ञानुं पालन करवाथी ज नभशे. 'कार्या' शब्द 'कृ' धातुमां 'यत्' प्रत्यय जेडीने अन्युं छे. आ शब्दथी आपश्रीअे आ कार्यनी (आज्ञापालननी) आवश्यकता अतावी छे. एव शब्द से आचार्यचरणों ने यह बतलाया है कि सेवक-धर्म तो प्रभु की आज्ञा का पालन करने से ही निभेगा। 'कार्या' शब्द 'कृ' धातु में 'यत्' प्रत्यय जोड़ कर बना है जिसके द्वारा आपश्री ने इस कार्य की (आज्ञापालन की) आवश्यकता बतलाई है।

सेवकस्तामकुर्वन् वै प्रत्यवायी हि जायते । निरन्तरं तत्कृतिस्तु स्वधर्मत्वेन बोधिता ।

सेवक जे भगवद्-आज्ञानुं पालन न करे तो ते दोषी सिद्ध थाय छे. अथी आचार्यचरणोअे निरंतर भगवाननी आज्ञानुं पालन करवानुं कहुं छे, जे ज्ञानो स्वधर्म छे.

सेवक यदि भगवद्-आज्ञा का पालन न करे तो वह दोषी सिद्ध होता है। अतः आचार्यचरणों ने निरंतर उनकी आज्ञा का पालन करना कहा है, जो जीव का स्वधर्म है।

स्वधर्मो यादृशस्तस्याऽकृतौ दोषोपि तादृशः । वाग्रूपवेदधर्मस्याऽकरणे वाङ्निरूपितः

नरकादिः, स्वरूपात्मधर्मस्याकरणे हरेः । स्वामिद्रोहा महान दोषः स्वरूपेण विरोधतः ॥

'आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राणामि' ति लौकिकवाक्यतः ।

आ स्वधर्म नेवो छे अने न करवाथी द्रोष पण तेवो न थाय छे. भगवद्-वाणीरूप वेदधर्मनुं पालन न करवा पर वेदमां अतावेला नई आदि पण भोगववा पडी शके छे. हरिनी आज्ञा हरिनुं न स्वरूप छे अने हरिनी आज्ञा न मानवा पर हरिना स्वरूपथी न विरोध कर्या अराअर छे नेनाथी स्वामीद्रोह करवा नेवो महान द्रोष उपस्थित थाय छे नेवो के “राजनी आज्ञा भंग करवी ते महान अपराध छे” आ लौकिकवाक्य द्वारा कहेवायुं छे.

यह स्वधर्म जैसा है, इसे न करने पर दोष भी वैसा ही होता है। भगवद्-वाणीरूप वेदधर्म का पालन न करने पर वेद में बताया गया नर्क आदि भी भोगना पड़ सकता है। हरि की आज्ञा हरि का ही स्वरूप है और हरि की आज्ञा न मानने पर हरि के स्वरूप से ही विरोध करना है जिससे स्वामीद्रोह करने जैसा महान दोष उपस्थित होता है। जैसा कि “राजा की आज्ञा भंग करनी महान अपराध है।” इस लौकिकवाक्य द्वारा कहा गया है।

सेवकस्य तु धर्मोयं स्वामी स्वस्य करिष्यति ।
आज्ञा पूर्वं तु या जाता गङ्गासागरसङ्गमे ॥ ५ ॥
यापि पश्चान्मधुवने न कृतं तद्द्वयं मया ।
देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः ॥ ६ ॥
सेवकस्य हरेः सेवां कुर्वतो मार्गवर्तिनः ॥

धर्मोयमेव नान्योस्ति यदाज्ञाकरणं प्रभोः । तुशब्देनान्यथा धर्मः पुष्टिस्थेषु विलोक्यते,

तदाज्ञालोपमानादि तद्धरेर्धर्मवेशनात् । तथैवात्रापि विज्ञेयं न, धर्मोयमितीरितम् ।

सेवकस्य शब्दथी तात्पर्य छे - हरिनी सेवा करवावाणा पुष्टिमार्गना अनुयायी. धर्मोयमेव शब्दथी तात्पर्य छे-प्रभुनी आज्ञानुं पालन करवा सिवाय पुष्टिमार्गीयो माटे बीन्ने कोर पण धर्म नथी. परंतु अही अेक संदेह आ थाय छे के प्रबलक्तो (पुष्टिस्थ) मां तो सेवक-धर्मथी विपरित नईने भगवद्-आज्ञानुं उल्लंघन करवुं, भगवानथी रीसाई नवुं वगेरे बीन्-धर्म पण नेवा भणे छे तो शुं अही पण अेम न करवुं? आचार्यचरण आज्ञा करे छे-नहीं. सेवकनो धर्म तो स्वामीनी आज्ञानुं पालन करवुं न छे. आपश्रीनुं आ तात्पर्य ‘तु’ शब्दथी नइवा भणे छे.

सेवकस्य शब्द से तात्पर्य है - हरि की सेवा करने वाले पुष्टिमार्ग के अनुयायी। धर्मोयमेव शब्द से तात्पर्य है - प्रभु की आज्ञा का पालन करने के अतिरिक्त पुष्टिमार्गीयों के लिए अन्य दूसरा कोई भी धर्म नहीं है। परंतु यहाँ एक संदेह यह होता है कि ब्रजभक्तों (पुष्टिस्थ) में तो सेवक-धर्म के विपरीत जाकर भगवद्-आज्ञा का उल्लंघन करना, भगवान से रूठ जाना इत्यादि अन्यथा-धर्म भी देखे जाते हैं, तो क्या यहाँ भी ऐसा ही कर लें? आचार्यचरण आज्ञा करते हैं, नहीं। सेवक का धर्म तो स्वामी की आज्ञा का पालन करना ही है। आपश्री का यह तात्पर्य ‘तु’ शब्द से ज्ञात होता है।

अत एवार्जुनेनोक्तं ‘करिष्ये वचनं तव’ ।

आ कारणथी अर्जुने पण भगवद्-गीतामां “मारा अथा संशय दूर थई गया छे अने हवे हुं आपनी आज्ञानुं पालन करीश. (भ.गी. १८/ ७३)” अेम कहुं छे.

इसी कारण अर्जुन ने भी भगवद्-गीता में “मेरे सारे संशय दूर हो गये हैं और अब मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा (भ०गी० १८/७३)” यह कहा है।

न चायमीदृशो धर्मः सन्दिग्धफलसाधकः ॥

यत आज्ञाभिधं धर्मं हरिः स्वीयं करिष्यति । ‘अहं त्वा सर्वपापेभ्य’ इत्युक्तं हरिणा यतः ।

आ प्रकारे भगवद्-आज्ञानुं पालन करवाथी इलसिद्धि थवामां संशय न राओ केभके आज्ञापालन करवावाणा स्वीयनोना समस्त कार्य स्वयं हरि संपन्न करे छे. आ न भगवाने भगवद्-गीतामां “हुं तने समस्त पापोथी मुक्त करी दईश, शोक नहीं कर (भ.गी. १८/ ६६)” आ वाक्य द्वारा कहुं छे.

इस प्रकार भगवद्-आज्ञा का पालन करने से फलसिद्धि होने में संशय मत रखिए क्योंकि आज्ञापालन करने वाले स्वीयजनों के समस्त कार्य स्वयं हरि संपन्न करते हैं। यही भगवान ने भगवद्-गीता में “मैं तुझे समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा, शोक मत कर (भ०गी० १८/६६)” इस वाक्य द्वारा कही है।

अन्ये सर्वेपि ये धर्मास्ते विभूतिपराः कृताः । फलदानं विभूतिभ्यस्तेषु सर्वत्र निश्चितम् ।

भगवान् श्रीकृष्णानी सेवाथी अतिरिक्त पीज्ज ळे पशु धर्मो छे अे अेमनी विभूतिओना धर्म छे अने आ निश्चित छे के अे धर्मोमां इलदान पशु विभूतिओ ळ करे छे.

भगवान्-श्रीकृष्ण की सेवा के अतिरिक्त अन्य दूसरे जो भी धर्म हैं, वह उनकी विभूतियों के धर्म हैं और यह निश्चित है कि उन धर्मों में फलदान भी विभूति ही करते हैं ।

ईदृग् धर्मपरित्यागं स्वस्मिन्नाहर्षनः प्रति । पश्चात्तापोप्यतो योग्यः सर्वथेति निरूपितम् ।

अेथी ळ्यारे आचार्ययरशुओ अे भगवद्-आज्ञा नहोती मानी, तो अेमना मनमां पश्चात्ताप थवुं पशु योग्य ळ छे.

अतः जब आचार्यचरणों ने भगवद्-आज्ञा नहीं मानी, तो उन्हें अपने मन में पश्चात्ताप होना भी योग्य ही है ।

तदेवाहुर्निजाचार्या महामाज्ञात्रयं हरिः * अदात्, तत्र स्थलं पूर्वाज्ञायां च तन्निरूपितम् ॥

यत्र देहपरित्यागः कर्त्तव्य इति सोऽब्रवीत् ।

अे ळ आचार्ययरशु कही रह्या छे के मने हरिअे त्रशु आज्ञाओ आपी अने कयां आपी; ते स्थल पशु पहेलानी आज्ञामां तेमशु अेताप्युं के ळयां देहपरित्यागनी आज्ञा थई.

वही आचार्यचरण कह रहे हैं कि, मुझे हरि ने तीन आज्ञाएँ दीं और कहाँ दीं; वह स्थल भी पहले की आज्ञा में उन्होंने बताया कि जहाँ देहपरित्याग की आज्ञा हुई ।

तत्र बीजं तु सान्निध्याद्ब्रह्मेर्भावात्मकस्य हि ॥

साक्षात्तद्भावसम्बन्धो विना मार्गोपदेशनम् । ततः स्वरूपप्राकट्यं पुष्टिमार्गस्थितप्रभोः ।

भगवान् द्वारा देहपरित्यागनी आज्ञा आपवानुं कारशु तो अे ळ हतुं के हृदयमां प्रभुने माटे विप्रयोगताप उत्पन्न थया वगर आचार्ययरशुओनुं समस्त ळुवोने मार्गनो उपदेश करवो प्रभुने स्वीकार्य नहोतुं. आपु करवाथी पुष्टिमार्गस्थित प्रभुनुं स्वइप अधानी समक्ष प्रकट थई अत.....

भगवान् द्वारा देहपरित्याग की आज्ञा देने का कारण तो यही था कि हृदय में प्रभु के लिए विप्रयोग-ताप उत्पन्न हुए बिना आचार्यचरणों द्वारा समस्त जीवों को मार्ग का उपदेश करना प्रभु को स्वीकार्य नहीं था । ऐसा करने से पुष्टिमार्गस्थित प्रभु का स्वरूप सभी के समक्ष प्रकट हो जाता

* ज्ञानं च नाभिलषितं गूढभावस्य वै हरेः । सर्वत्र सर्वजीवानां * तेनैवं प्रभुरुक्तवान् ॥

अने सर्वत्र समस्त ळुवोने हरिना गूढभावनुं ज्ञान थई अय आ प्रभुने अभिलषित नहोतुं. आ कारशु अेमशु आचार्ययरशुओने देहत्यागनी आज्ञा करी.

और सर्वत्र समस्त जीवों को हरि के गूढ भाव का ज्ञान हो जाय, यह प्रभु को अभिलषित नहीं था । इस कारण उन्होंने आचार्यचरणों को देहत्याग की आज्ञा की ।

ततः प्राकृतवत्कृत्या गार्हस्थ्यदौ विमोहनम् । सम्पाद्य स्वीयसान्निध्यं भक्तानामेव कारितम् ॥

उपदेशनमारब्धमाचार्यैः पुष्टिमार्गगम् ।

आना पछी आचार्ययरशुओ अे गृहस्थाश्रमनो त्याग करीने पोताना निजभक्तोने ळ अेमनुं सान्निध्य प्रधान कर्तुं अने पुष्टिमार्गनो उपदेश करवो आरंभ कर्तुं.

इसके पश्चात् आचार्यचरणों ने गृहस्थाश्रम का त्याग करके अपने निजभक्तों को ही अपना सान्निध्य प्रदान किया एवं पुष्टिमार्ग का उपदेश करना आरंभ किया ।

तता मधुवन सर्वा गूढलीला प्रकाशिता ॥

उपदेशेन भक्तेभ्योऽनभीष्टं तदपि प्रभोः । लीलाधारत्वतः स्वस्य तद्वारैव प्रकाशनात् ।

अेना पछी आचार्ययरशुओ अे उपदेश द्वारा पोताना भक्तोने मधुवनमां प्रभुनी समस्त गूढलीलाओने प्रकाशित करी परंतु प्रभुने ते गूढलीलाओने प्रकाशित करवानी ईच्छा नहोती केअे अे लीलाओना आधार तो स्वयं प्रभु ळ छे अने प्रभु स्वयं पोताना द्वारा ळ

पोतानी लीलाओने प्रकाशित करवानुं छ्यता हता।

इसके पश्चात् आचार्यचरणों ने उपदेश द्वारा अपने भक्तों के लिए मधुवन में प्रभु की समस्त गूढलीलाओं को प्रकाशित किया परंतु प्रभु को उन गूढलीलाओं को भी प्रकाशित करना अभीष्ट नहीं था। क्योंकि उन लीलाओं के आधार तो स्वयं प्रभु ही हैं और प्रभु स्वयं अपने द्वारा ही अपनी लीलाओं को प्रकाशित करना चाहते थे।

तद्द्वयं न कृतं कृष्णाऽऽज्ञाया रसविशेषतः । श्रीभागवतगूढार्थप्रकटीकरणत्तथा ॥

लीलास्थलदृगासक्तेन भयं प्रौढितो रतेः ।

आचार्यचरणों ने आ भूने आज्ञाओनुं पालन नहीं कर्तुं के भेके श्रीकृष्णनी आज्ञा रसविशेष हती, आपश्रीने श्रीभागवतनो गूढार्थ प्रकट करवो हतो अने साथे साथे अने भगवानना लीलास्थलनी आसक्ति पोतानी पासे भेयी रही हती अने आ ७ प्रौढ-रतिने कारण प्रभु-आज्ञानुं उल्लंघन करवाभां अने भय न लाग्यो।

आचार्यचरणों ने इन दोनों आज्ञाओं का पालन नहीं किया क्योंकि श्रीकृष्ण की आज्ञा रसविशेष थी, आपश्री को श्रीभागवत का गूढार्थ प्रकट करना था और साथ ही साथ उन्हें भगवान के लीलास्थल की आसक्ति अपनी ओर खींच रही थी और इसी प्रौढि-रति के कारण प्रभु-आज्ञा फेर देने में उन्हें भय न लगा।

तुशब्देनाधुना नैव तादृगाज्ञां ददाति हि ।

'तु' शब्दथी ७शाय छे के, हवे त्रील आज्ञा अर्थात् संन्यासग्रहण करवानी आज्ञाभां पहिलानी भे आज्ञाओनी भेभ कोई गूढ तात्पर्य नथी तेथी हवे अेवी आज्ञा नथी आपी रह्या।

'तु' शब्द से यह ज्ञात होता है कि, अब तीसरी आज्ञा अर्थात् संन्यासग्रहण करने की आज्ञा में पिछली दोनों आज्ञाओं की भाँति भगवान का कोई गूढ तात्पर्य नहीं है, अतः अब वैसी आज्ञा नहीं दे रहे हैं।

स्वास्थ्यवाक्ये न संन्यासे कुरुते भावघातनम् । 'स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं' इत्यतोस्मत्प्रभोर्वचः।

भे हवे आचार्यचरण संन्यासग्रहण न करे अने अही ७ रहेवानो आग्रह राभे तो प्रभु भावनो विघात करशे, संन्यासभां नहीं. आ ७ वात आपणा आचार्यचरणों संन्यासनिर्णयग्रंथभां "स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं/१३" आ श्लोक द्वारा कही छे।

यदि अब आचार्यचरण संन्यासग्रहण न करें एवं यहीं विराजने का आग्रह रखें तो प्रभु भाव का विघात करेंगे, संन्यास में नहीं। यही बात हमारे आचार्यचरणों ने संन्यासनिर्णयग्रंथ में "स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं / १३" इस श्लोक द्वारा कही है।

स्थलं च प्रथमाज्ञायाः स्वसंयोगप्रबोधकम् । गङ्गायाः सागरेणात्र यथा योगस्तथा मया ॥

आचार्यचरण आज्ञा करे छे के, प्रथमआज्ञानुं स्थल प्रभुथी भारा संबंधने बोध कराववावाणुं छे अर्थात् गंगासागरभां भेभ गंगानुं सागरथी मिलन थयुं तेम अही भारुं प्रभुथी मिलन थयुं।

आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि प्रथम-आज्ञा का स्थल प्रभु से मेरे संबंध को बोध कराने वाला है, अर्थात् गंगासागर में जैसे गंगा का सागर से मिलन हुआ वैसे यहाँ मेरा प्रभु से मिलन हुआ।

एकीभावेन सम्बन्ध इति स्वामिप्रलोभनम् । पद्ये द्वितीये यः प्रोक्तोऽपिशब्दस्तेन बोधितम् ॥

आचार्यचरणोंने प्रभु पोतानी पासे ओलाववा भाटे प्रलोभन आपी रह्या छे, आ बीन् पद्य भां (यापिमया) प्रयुक्त थयेल अपि शब्दथी ७शाय छे।

आचार्यचरणों को प्रभु अपने निकट बुलाने के लिए प्रलोभन दे रहे हैं, यह दूसरे पद्य में (यापि मया) प्रयुक्त हुए अपि शब्द से ज्ञात होता है।

एतदाज्ञापनमपि स्वसम्बन्धप्रलोभकम् । पश्चात्पदेनैतदाज्ञा विलम्बेन समुद्रता ॥

अही बीन् पद्य भां अतावेल आज्ञा पण प्रभुना प्रलोभन ने अतावे छे. पश्चात् पद्यथी आ ७शाय छे के, पहिली आज्ञानुं पालन करवाभां विलंब थयो, आ कारणे आ बील आज्ञा आपवाभां आवी।

यहाँ दूसरे पद्य में बताई गई आज्ञा भी प्रभु के प्रलोभन को बता रही है। पश्चात् पद्य से यह ज्ञात होता है कि पहली आज्ञा का पालन करने में विलंब हुआ, इस कारण से यह दूसरी आज्ञा दी गई।

स्थलं मधुवनं प्रोक्तं दुष्टसम्बन्धतस्तथा । तत्र नैवंविधं कार्यं कार्यमित्याशयो हरेः ॥

बी७ आज्ञानो स्थल मधुवन कहेवायो छे अने दुष्टोथी संबन्धित थई जवाने कारणे प्रभुनो आशय आ एतो के, श्रीमद्-भागवतनो गूढार्थ प्रकट करवा जेवा कार्यो त्यां न करवा.

दूसरी आज्ञा का स्थल मधुवन कहा गया है और दुष्टों से संबंधित हो जाने के कारण प्रभु का आशय यह था कि, श्रीमद्-भागवत का गूढार्थ प्रकट करने जैसे कार्यो को वहाँ मत करो ।

तत्रत्यानाञ्च विप्राणामतः प्रौक्तैव दुष्टता । एतद्द्वयं तु न कृतं तृतीयोऽर्थात्कृतो मतः ॥

आ ज कारणे त्यां रहेवावाणा प्राहणोनी दुष्टता ज कहेवाभां आवी छे. आ भन्ने आज्ञाओनुं पालन आचार्यचरणोअे न कर्युं अने तृतीयो शब्दनो तात्पर्य आ छे के-त्री७ आज्ञानुं पालन करी लीधुं.

इसी कारण वहाँ रहने वाले बाह्यणों की दुष्टता ही कही है । इन दोनों आज्ञाओं का पालन आचार्यचरणों ने नहीं किया और तृतीयो शब्द का तात्पर्य यह है कि - तीसरी आज्ञा का पालन कर लिया ।

त्यागो लोकैकविषयो नामदानादिवर्जनात् । सेवाप्रदर्शनाभावात् सहनाहुःखदस्य च ॥

अर्हिया आचार्यचरणो द्वारा त्याग करवानो अर्थ आ छे के, आपश्रीअे प्रभु-आज्ञानुसार भागवतगूढार्थनी बहुलता अने अेनो दान बधा माटे वर्जित कर्यो; आपश्री जे प्रभुसेवा-पद्धतिनो शिक्षण आपी रखा एता, तेनो त्याग कर्यो; आपश्रीअे प्रभुना विप्रयोगनुं दुःख सहन कर्युं.

यहाँ श्रीआचार्यचरणों के त्याग करने का अर्थ यह है कि आपश्रीने प्रभु-आज्ञानुसार भागवतगूढार्थ की बहुलता एवं उसका दान सभी के लिए वर्जित किया; आपश्री जो प्रभुसेवा-पद्धति का शिक्षण दे रहे थे, उसका त्याग किया; आपश्री ने प्रभु के विप्रयोग का दुःख सहन किया ।

नन्वेवं धर्मगमने पश्चात्तापस्तु संभवेत् । इति चेन्न; यतः सेवाकरणात्सेवकास्म्यहम् ॥

परंतु जे आ प्रकारे आचार्यचरण प्रभुनी आज्ञाओनुं पालन न करे अने आनाथी जे धर्महानि थती होय, तो अेभने पश्चात्ताप थवुं तो संभव छे ज-जे आवी शंका थती होय तो, ना. आवी शंका न करवी कारणके भागवतगूढार्थ प्रकट करवुं पण प्रभु सेवा ज होवाने कारणे. तेथी आचार्यचरण पोताने “हुं प्रभुनो सेवक ज छुं” आम कही रखा छे.

किंतु यदि प्रकार आचार्यचरण प्रभु की आज्ञाओं का पालन न करें और इससे जो धर्महानि होती हो तो उन्हें पश्चात्ताप होना तो संभव है ही? यदि ऐसी शंका होती हो तो, नहीं । ऐसी शंका मत रखें, क्योंकि भागवतगूढार्थ प्रकट करना भी प्रभुसेवा ही होने के कारण । अतः आचार्यचरण अपने आप को “मैं प्रभु का सेवक ही हूँ” यों कह रहे हैं ।

पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोहं न चान्यथा ।

लौकिकप्रभुवत्कृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन ॥ ७ ॥

सेवा तु स्वाम्यभिहितकरणेन भवेत् पुनः । स्वामिनैव यदुक्तं मे श्रीभागवतवर्णनम् ॥ पुष्टिमार्गप्रकटनं तदेव क्रियते मया । तदुत्तरं चेत्स्थास्यामि तदा दोषो भविष्यति ॥

आचार्यचरण आज्ञा करे छे के, स्वामीनी इच्छानुसार कार्य करवुं ज अेभनी सेवा करवी छे. अने स्वामीअे ज जे भने श्रीमद्-भागवतनुं वर्णन अने पुष्टिमार्गने प्रकट करवानुं एतुं, अे ज हुं करी रह्यो छुं. जे आटलुं कर्या पछी ए७ वधारे हुं अर्ही रलीश तो दोष थई जशे, त्यां सुधी नहीं.

आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि, स्वामी की इच्छानुसार कार्य करना ही उनकी सेवा करनी है । और स्वामी ने ही जो मुझे श्रीमद्भागवत का वर्णन एवं पुष्टिमार्ग को प्रकट करने को कहा था, वही मैं कर रहा हूँ । यदि इतना करने के पश्चात् और अधिक मैं यहाँ रहूँगा तो दोष हो जायेगा, तब तक नहीं ।

न चाज्ञाप्राप्तसेवायाः करणे धर्मतश्च्युतिः । सेवाकृतेराज्ञयापि स्थितेरन्यविवर्जनात् ॥ तदा केन प्रकारेण पश्चात्तापो भवेन्मम । आपश्री आगण कहे छे के जे भगवद्-आज्ञा प्राप्त थई छे अे आज्ञानुं पालन करवाथी जे सेवा हुं करी रह्यो छुं अेभां धर्मच्युति थवानो प्रश्न नथी केभके आज्ञापालन करवाथी हुं प्रभुसेवा तो करी ज रह्यो छुं अने अेने अलावा बीजुं कांई ज नथी करी रह्यो. तो भने कोई पण प्रकारथी पश्चात्ताप केम थवो जेईअे?

ननु प्रभूणां लोके तु दृष्टा सेवाकृतावपि परित्यागकृतिः स्वीयोत्तराज्ञापरिपालने । अत्रापि चेत्तथाभावे पश्चात्तापस्तु सर्वथा इति चेन्न हरिः कृष्णो द्रष्टव्या लौकिकेशवत् ।

परंतु अर्हियों आपश्रीने मनमां अेक संदेह आ थाय ए के, जेम लोकमां सेवक द्वारा सेवा करवा पर पण स्वामी अेनो परित्याग करी दे ए, तेवी रीते अर्हियों पण मे तो भगवद्-आज्ञानुं पालन विलंबथी कर्तुं ए अेथी जे प्रभु मारो परित्याग करी देशे तो शुं थशे? अेथी मनमां आ प्रकारनो पश्चात्ताप तो थाय न ए. जे अेवो संदेह थाय ए तो आपश्री आज्ञा करे ए के, हरि-कृष्णने अेक लौकिक-स्वामीनी दृष्टिथी न जेवा जेईअे.

परंतु यहाँ आपश्री को मन में एक संदेह यह होता है कि, जैसे लोक में सेवक द्वारा सेवा करने पर भी स्वामी उसका परित्याग कर देता है, वैसे यहाँ भी मैंने तो भगवद्-आज्ञा का पालन विलंब से किया है अतः यदि प्रभु मेरा परित्याग कर देंगे तो क्या होगा ? अतः मन में इस प्रकार का पश्चात्ताप तो होता ही है । यदि ऐसा संदेह होता हो तो आपश्री आज्ञा करते हैं कि, हरि-कृष्ण को एक लौकिक-स्वामी की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए ।

स भावाऽज्ञो हरिर्भाववेत्ता स क्षणिको हरिः न तथा, स तु दोषाढ्यो हरिर्दोषविवर्जितः। सोऽनित्यस्वीकृतिः कृष्णो

नित्याङ्गीकरणो मतः॥ स दुःखरूपः कृष्णस्तु पूर्णानन्दो निरूपितः । सोल्पदः पूर्णपरमानन्दसन्दोहदो हरिः ॥

कदाचनतिशब्देन सोऽस्थिरः स्थिरता हरेः । अतस्त्यागभयाऽभावादनुतापो निवारितः ।

केभके लौकिक-स्वामी तो भावशून्य ए अने हरि भक्तोना भावोने जणो ए. लौकिक-स्वामीथी संबंध तो क्षणमात्र ए. प्रभुनी साथे अेवुं नथी. लौकिक-स्वामी तो दोषयुक्त ए अने हरि समस्त दोषोथी रहित. तेओ तो थोडा समय माटे न सेवकने स्वीकार करे ए परंतु हरि द्वारा अंगीकार करवुं तो नित्य ए. लौकिक-स्वामी दुःख इप ए अने कृष्ण पूर्णानंद ए. लौकिक-स्वामी तो अल्पमात्रामां न सुख आपी शके ए परंतु हरि तो पूर्ण-परमानंदनुं दान करवावाणा ए. अने कदाचन शब्दथी जणाय ए के लौकिक-स्वामी तो अस्थिर ए परंतु पोताना भक्तोनी रक्षा करवामां हरि पूर्णरूपथी स्थिर ए अेथी जेवने त्याग थई जवानो भय न होवाथी अर्ही पश्चात्तापनुं निवारण थई गयुं ए.

क्योंकि लौकिक-स्वामी तो भावशून्य हैं और हरि भक्तों के भावों को जानते हैं । लौकिक-स्वामी से संबंध तो क्षणिक मात्र है, प्रभु के साथ ऐसा नहीं है । लौकिक-स्वामी तो दोषयुक्त हैं और हरि समस्त दोषों से रहित । वे तो कुछ समय के लिए सेवक को स्वीकार करते हैं परंतु हरि द्वारा अंगीकार किया जाना तो नित्य है । लौकिक-स्वामी दुःखरूप हैं एवं कृष्ण पूर्णानंद हैं । लौकिक-स्वामी तो अल्पमात्रा में ही सुख दे सकते हैं परंतु हरि तो पूर्ण-परमानंद का दान करने वाले हैं । और कदाचन शब्द से ज्ञात होता है कि लौकिक-स्वामी तो अस्थिर हैं, परंतु अपने भक्तों की रक्षा करने में हरि पूर्णरूप से स्थिर हैं अतः जीव को त्याग दिए जाने का भय न होने से यहाँ पश्चात्ताप का निवारण हो गया है ।

सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोसि सुखी भव ।

किञ्च, सर्वं लौकिकं हि वैदिकं च समर्पितम् । अहन्ताममते चापि त्वया तत्र समर्पिते ॥

अतः कर्तव्यताऽभावात् कृतार्थत्वमभूत्तव । किमर्थं कुरुषे दुःखं किं तवास्ति सुखी भव ।

अने, आचार्यचरण आगण कहे ए के तमे सर्वं अर्थात् लौकिक-वैदिक अर्धुं काई भगवानने समर्पण करी दीधुं ए. साथे साथे पोतानी अहंताममता पण भगवानने समर्पित करी दीधी ए अेथी तमारुं कोई कर्तव्य बाकी नथी रहेतुं अने तमे कृतार्थ एो हवे तमारुं शुं रही गयुं जे तमे दुःख करी रह्या एो? सुखी रहो.

और, आचार्यचरण आगे कहते हैं कि तुमने सर्वं अर्थात् लौकिक-वैदिक सभी कुछ भगवान को समर्पित कर दिया है । साथ ही साथ अपनी अहंताममता भी भगवान को समर्पित कर दी है अतः तुम्हारा कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता है और तुम कृतार्थ हो । अब तुम्हारा क्या रह गया है, जो तुम दुःख कर रहे हो ? सुखी रहो ।

भ्रमादेवाभवदुःखं त्यजाश्चिति * ममाशयः । सेवावशादगमने नातोषोऽलौकिकप्रभोः ।

आपश्री आज्ञा करे ए के आवुं दुःख भ्रमवश उत्पन्न थाय ए तेथी अेवा दुःखने शीघ्र त्यागी हो, आ मारो आशय ए. भगवद्-सेवाना न करणो जे प्रभुनी पासे नथी नई रह्या तो अलौकिक-प्रभु अप्रसन्न नहीं थाय.

आपश्री आज्ञा करते हैं कि ऐसा दुःख भ्रमवश उत्पन्न होता है अतः ऐसे दुःख को शीघ्र त्याग दो, यह मेरा आशय है । भगवद्-सेवा के ही कारण यदि प्रभु के पास नहीं जा रहे हैं, तो अलौकिक-प्रभु अप्रसन्न नहीं होंगे ।

प्रौढापि दुहिता यद्वत्स्नेहान्न प्रेष्यते वरे ॥ ८ ॥

तथा देहे न कर्तव्यं वरस्तुष्यति नान्यथा ।

सेवाप्रियस्य करुणाकरस्य मृदुचेतसः । देहाध्यासादगमने त्वसन्तोषो भवेत्प्रभोः ॥

अतो विदधते चित्तसमाधानं निदर्शनात् । देहे न सत्ता स्थाप्या हि यथा दुहितरि स्वतः ॥

जामात्रर्थे पोषणं तु हर्यर्थे तद्वदत्र हि ।

सेवाप्रिय-कृष्णा करवावाणा-मृदुचित्तवाणा प्रभुने असंतोष अवश्य थाय छे, जे एव देहमां आसक्ति राखवाना कारणे ऐमनी पासे न जय ऐथी आचार्यचरण चित्तनुं समाधान करतां कही रह्या छे के देहमां आसक्ति नहीं राभो; जेम पुत्रीनुं लालन-पालन तो जमाईने माटे करवामां आवे छे, तेम ज आ देहनुं पोषण हरि-सेवा माटे करवुं जेईये.

सेवाप्रिय-करुणा करनेवाले-मृदु चित्त वाले प्रभु को असंतोष अवश्य होता है यदि जीव देह में आसक्ति रखने के कारण उनके पास न जाय अतः आचार्यचरण चित्त का समाधान करते हुए कह रहे हैं कि-देह में आसक्ति मत रखो; जैसे पुत्री का लालन-पालन तो दामाद के लिए किया जाता है, वैसे ही इस देह का पोषण हरि-सेवा के लिए करना चाहिए ।

अयोग्यतायां तच्चिन्ता कर्तव्या रक्षणादिषु ॥ प्रौढा चेत्सकला चिन्ता तस्यैवेति विबुध्यताम् ।

अतो न देहाध्यासेन देहाद्यप्रेरणं हरौ उचितं तद्रतस्नेहात्स न तुष्येद्यतो वरः प्रत्यग्रभोक्ता, नाऽजातरसस्यायोग्यवस्तुनः ॥

अतः स तु कथं तुष्येदपेक्षायामनर्पणात् ॥

ज्यां सुधी पुत्री जमाई माटे अयोग्य छे, त्यां सुधी ऐना रक्षा आदिनी चिन्ता करवी जेईये परंतु जे ते प्रौढ थई जय, त्यारे तो समस्त चिन्ताओ जमाईनी थई जय छे, आ जणी ल्यो. ऐथी देहमां आसक्ति राभीने आ देहनो विनियोग हरि सेवामां न करावीये-ऐ उचित नथी. जे पुत्रीमां स्नेह राखशो तो ऐनो वरः अर्थात् ऐनो तरुणभोक्ता संतुष्ट नहीं थशे. ठीक आवी ज रीते भगवान रसहीन अथवा तो अयोग्य वस्तुना भोक्ता नथी तेथी जे ऐमनी अपेक्षा होय अने आपणे ऐमने अर्पण न करीये, तो तेवो केवी रीते संतुष्ट थाय?

जब तक पुत्री दामाद के लिए अयोग्य है तब तक उसके रक्षण आदि की चिन्ता करनी चाहिए परंतु यदि वह प्रौढ हो जाय, तब तो समस्त चिन्ताएँ दामाद की हो जाती हैं, यह जान लीजिए । अतः देह में आसक्ति रखते हुए इस देह का विनियोग हरिसेवा में न कराएँ -यह उचित नहीं है । यदि पुत्री में स्नेह रखेंगे तो उसका वरः अर्थात् उसका तरुणभोक्ता संतुष्ट नहीं होगा । ठीक इसी प्रकार भगवान रसहीन या अयोग्य वस्तु के भोक्ता नहीं हैं अतः यदि उनकी अपेक्षा हो और हम उन्हें अर्पण न करें तो वह कैसे संतुष्ट होंगे ?

तदाशयपरिज्ञानमात्राच्चेदप्यते स्वतः ॥

तदा विशेषसन्तोषस्त्वाज्ञायां मध्यमः स्मृतः । आज्ञायामपि चेन्नोभो देहादेस्तोषणं कथम् ॥

यदर्थं सकलापेक्षा तदभावेऽखिलं वृथा ।

जे आशय जणी लईने पोते ज अर्पण करी देवामां आवे तो परम-संतोष थाय छे, आज्ञा थई जवा पर अर्पण करीये तो ते मध्यम-प्रकार छे अने आज्ञा थवा पर पण जे देह-आदिमां लोभ राभीने अने प्रभु-सेवामां न लगावामां आवे तो प्रभु केम प्रसन्न थशे? जे प्रभुनी प्रसन्नता माटे बंधुं कांई करवामां आवे छे, जे तेओज अप्रसन्न रही जय तो बंधुं कांई व्यर्थ छे.

यदि आशय जान लेने से ही स्वतः अर्पण कर दिया जाय तो परम-संतोष होता है, आज्ञा हो जाने पर अर्पण करें तो वह मध्यम-प्रकार है और आज्ञा होने पर भी यदि देह-आदि में लोभ रखते हुए उसे प्रभु-सेवा में न लगाया जाय तो प्रभु कैसे प्रसन्न होंगे ? जिन प्रभु की प्रसन्नता के लिए सभी कुछ किया जा रहा है, यदि वही अप्रसन्न रह गये तो सभी कुछ व्यर्थ है ।

लोकवच्चेत्स्थितिर्मे स्यात्किं स्यादिति विचारय ॥ ९ ॥

अशक्ये हरिरेवास्ति मोहं मा गाः कथञ्चन ॥१०॥

ननु देहादिलोभस्तु लोकोत्पन्नस्य जायते ॥

स्वानभिप्रेतकथने मानोपि भवति प्रिये । मदोपि प्रियसौभाग्यात्स्वासाधारण्यबोधकः ॥

जायते दोषभावश्च प्रभौ प्रौढिवशात्पुनः । अतः किञ्चित्प्रमिति चेन्नैवं चित्तोचितं मयि ॥

परंतु अेक प्रश्न अे थाय अे के लौकिक ँवोने देहना प्रति आसक्ति तो होय अे अने पोताने अभिप्रेत न होय अेवुं कोरु कही दे तो प्रियथी उरुवुं पण संभव अे. आ मरु पण पोतानी असाधारणतानुं ओध कराववावाणुं अे.

अेवा मरु अने भावावेशनी अधिकताना कारणे प्रभुमां दोषभाव पण उत्पन्न थरुं अय अे, अेमां शुं आश्चर्य अे? अे अेवी शंका थाय तो आचार्यचरण आज्ञा करे अे के -आवो विचार करवो मारा माटे उचित नथी.

किंतु एक प्रश्न यह होता है कि, लौकिकजीवों को देह के प्रति आसक्ति तो होती ही है और अपने को अभिप्रेत न हो ऐसा कोई कह दे तो प्रिय से रूठना भी संभव है। यह मद भी अपनी असाधारणता का बोध कराने वाला है।

ऐसे मद और भावावेश की अधिकता के कारण प्रभु में दोषभाव भी उत्पन्न हो जाता है, इसमें क्या आश्चर्य है ? यदि ऐसी शंका हो तो आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि-ऐसा विचार करना मेरे लिए उचित नहीं है।

अहं तदास्यरूपोस्मि भक्त्यात्मा वह्निरूपधृक् । निर्दुष्टः केवलानन्दकरपादादिसङ्गतः ॥

कृष्णाधरसुधासारः परमानन्दरूपवान् । भक्तिदाता समस्तानां स्वीयसान्निध्यमात्रतः ॥

श्रीकृष्णरसभावात्मा ब्रजस्त्रीहृदयस्थितः । लीलाशतसमाक्रान्तसर्वाङ्गो विस्मृताखिलः ॥

हृदयस्वामिसहितो ह्याविर्भूतस्तदाज्ञया । एतादृशो ममापि स्याल्लोकवच्चेत्स्थितिर्मनः ॥

ब्रूहि किं स्यादिति पुनः स्वयं हृद्येव चिन्तय ।

आचार्यचरण आज्ञा करे अे के, हुं तो भगवद्-मुखारविंदस्वरूप अुं, भक्त्यात्मा अुं अने अग्निस्वरूपने धारण करवावाणो अुं अने डेवण आनंदमात्र कर-पाद-आदि स्वरूपवाणा प्रभु-श्रीकृष्णना संगथी निर्दुष्ट अुं. श्रीकृष्णनी अधरसुधाना साररूप परमानंदरूपवान अुं अने समस्त स्वीयजनोने पोताना सान्निध्य मात्रथी लक्तिनुं दान करवावाणो अुं. श्रीकृष्ण रसभावात्मा अने प्रवस्त्री (गोपिकाओ) मारा हृदयमां स्थित अे. भगवाननी सेंकडो लीलाओथी मारुं सर्वांग ओतप्रोत अे, अेनाथी मने समस्त संसार विस्मृत थरुं अूक्युं अे. मारा हृदयमां मारा स्वामी-भगवान स्थित अे अने अेमनी आज्ञाथी अ हुं आविर्भूत थयो अुं. हुं तो अेवो अुं अने मारी पण अे लौकिकगति थरुं अत तो हे मारुं मन ! तुं कहे के शुं थात ?

आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि, मैं तो भगवद्-मुखारविंदस्वरूप हूँ, भक्त्यात्मा हूँ और अग्निस्वरूप को धारण करने वाला हूँ और आनंदमात्र कर-पाद-आदि स्वरूप वाले प्रभु-श्रीकृष्ण के संग से निर्दुष्ट हूँ। कृष्ण की अधरसुधा का साररूप परमानंदरूपवान हूँ और समस्त स्वीयजनों को अपने सान्निध्यमात्र से भक्ति का दान करने वाला हूँ। श्रीकृष्णरसभावात्मा और ब्रजस्त्री (गोपिकाएँ) मेरे हृदय में स्थित हैं। भगवान की सैकड़ों लीलाओं से मेरा सर्वांग ओतप्रोत है, जिससे मुझे समस्त संसार विस्मृत हो चुका है। मेरे हृदय में मेरे स्वामी-भगवान स्थित हैं और उनकी आज्ञा से ही मैं आविर्भूत हुआ हूँ। मैं तो ऐसा हूँ और मेरी भी यदि लौकिकगति हो जाती तो हे मेरे मन! तुम कहो कि क्या होता ?

तदास्यस्य स्थितौ चैवं प्रभोरपि तथा स्थितिः

इत्यज्ञानं न तद्युक्तं हरेरानन्दरूपिणः । अवाच्यत्वादेवमुक्तं स्वयमेव विचारय ॥

आचार्यचरणोअे मरुमां आवीने प्रभुआज्ञानुं उरुंधन नथी क्युं केमके अे आचार्यचरणोमां मरु उत्पन्न थयुं मानी लरुअे तो आपथ्री तो प्रभु-मुखारविंदस्वरूप अे. अने आ प्रकारे आपथ्रीमां मरु उत्पन्न थयुं मानी लरुशुं तो आनंदस्वरूप हरिमां मरु उत्पन्न थयुं मानी लेवुं पडशे, अे कहेवुं अ संभव नथी.

आचार्यचरणों ने मद में आकर प्रभु आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया है क्योंकि यदि आचार्यचरणों में मद उत्पन्न हुआ मान लेंगे तो आपथ्री तो प्रभु-मुखारविंदस्वरूप हैं और इस प्रकार आपथ्री में मद उत्पन्न हुआ मान लेंगे तो आनंदस्वरूप हरि में मद उत्पन्न हुआ मानना पड़ेगा, जो कहना ही संभव ही नहीं है।

ननु जातेऽपराधे तु किं विधेयमशक्तितः । अज्ञात्वा वाथवा ज्ञात्वा यत्कृतं नाकृतं हि तत् ॥

अतः कथं सोनुतापो हृदयात्तु निवर्तते ।

परंतु प्रश्न आ अे के पोतानी अशक्तिने कारणे अनज्ञतां अे अपराध थयो अे अथवा नज्ञी अेर्धने पण अे भगवद्-आज्ञा पालन न करवानो अपराध थयो अे, अेना माटे शुं करवुं ? अेवे अे अनुताप हृदयमांथी केम निवृत्त थाय ?

परंतु प्रश्न यह है कि अपनी अशक्ति के कारण अनजाने में जो अपराध हुआ है अथवा जानबूझकर भी जो भगवद्-आज्ञा पालन न करने का अपराध हुआ है, उसके लिए क्या करना ? अब वह अनुताप हृदय में से कैसे निवृत्त हो ?

इतिचेन्न हरिः सर्वदुःखहर्ता ह्युपेक्षते ॥

अशक्य निजभक्तानां स्वयं सर्वत्र साधकः । यतो गजेन्द्रस्याशक्ये स्वयमाविर्बभूव ह ॥

कार्यं च कृतवान् सर्वमतो हरिपदं यतः ।

जे એવી શંકા થાય તો, આચાર્યચરણ આજ્ઞા કરે છે કે હરિ સમસ્ત દુઃખોનું હરણ કરવાવાળા છે. અને પોતાના ભક્તોના અપરાધને નજરઅંદાજ કરી દે છે. એમના નિજભક્ત જે અશક્ત થઈ જાય તો તેઓ પોતે સર્વત્ર એમના સાધન બની જાય છે કેમકે ગજેન્દ્ર જ્યારે અશક્ત થઈ ગયો હતો, ત્યારે તેઓ એની રક્ષા કરવા માટે સ્વયં આવિર્ભૂત થયા હતા અને એના સમસ્ત કાર્ય એમણે પૂર્ણ કર્યા, જેના કારણે એમને હરિ કહેવામાં આવે છે.

यदि ऐसी शंका हो तो, आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि हरि समस्त दुःखों का हरण करने वाले हैं और अपने भक्तों के अपराध को अनदेखा कर देते हैं । उनके निजभक्त यदि अशक्य हो जाएँ तो वे स्वयं सर्वत्र उसके साधक बन जाते हैं क्योंकि गजेन्द्र जब अशक्त हो गया था, तब वे उसकी रक्षा करने के लिए स्वयं आविर्भूत हुए थे और उसके समस्त कार्य उन्होंने पूर्ण किए , जिसके कारण उनको हरि कहा जाता है ।

एतेन साधनाभावे दैन्यभावोद्भवे पुनः ॥

निःसाधनफलात्मासौ प्रादुर्भवति निश्चितम् । एवकारेण नान्येषां निःसाधनफलात्मता ॥

न वा कृपालुता पूर्णानन्दाभावाद्द्रसास्थितेः ।

એનાથી સિદ્ધ થાય છે કે, જીવ સાધનરહિત હોય અને એનામાં દૈન્ય પ્રકટ થાય તો આ નિઃસાધન-ફલાત્મા પ્રભુ પ્રકટ થાય છે, આ નિશ્ચિત છે. એવ શબ્દથી જણાય છે કે, પુષ્ટિપ્રભુ સિવાય બીજા કોઈ દેવતાઓમાં નિઃસાધન-ફલાત્મતા નથી અને પૂર્ણાનંદનો અભાવ હોવાને-કારણે અને આનંદ અસ્થિર હોવાને કારણે એમનામાં કૃપાલુતા પણ નથી.

इससे सिद्ध होता है कि, जीव साधनरहित हो और उसमें दैन्य प्रकट हो तो यह निःसाधनफलात्मा-प्रभु प्रकट होते हैं, यह निश्चित है । ‘एव’ शब्द से यह ज्ञात होता है कि, पुष्टिप्रभु के अतिरिक्त अन्य दूसरे देवताओं में निःसाधन-फलात्मता नहीं है और पूर्णानंद का अभाव होने के कारण एवं आनंद अस्थिर होने के कारण उनमें कृपालुता भी नहीं है ।

अस्तीति पदतः स्वाग्रे प्रादुर्भूतो निरूपितः ॥

अतो मोह स्ववैकल्य मा प्राप्नुहि मनो मम ।

આચાર્યચરણોએ “અશક્ય પરિસ્થિતિઓમાં હરિ છે (અસ્તિ)” એમ કહ્યું છે, જેનાથી જણાય છે કે તેઓ પોતાની સમક્ષ હરિનો પ્રાદુર્ભાવ થવો બતાવી રહ્યા છે. એથી આપશ્રી આજ્ઞા કરે છે કે -હે મારું મન ! તું વિકલ નહીં બન.

आचार्यचरणों ने “अशक्य परिस्थितियों में हरि ह (अस्ति)” यह कहा है, जिससे ज्ञात होता है कि वे अपने समक्ष हरि का प्रादुर्भाव होना बता रहे हैं । अतः आपश्री आज्ञा करते हैं कि - हे मेरे मन ! तुम विकल मत बनो ।

एवं स्वान्तःसमाधानं विधाय स्वसदुक्तिभिः ॥

इति श्रीकृष्णदासस्य वल्लभस्य हितं वचः ।

चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥૧૧॥

इति श्रीमद्बल्लभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः समाप्तः ।

सम्पाद्य स्वस्य नैश्चिन्त्यं स्वीयान् प्रति वदन्ति हि । एवं प्रकारकं वाक्यं हित फलदशासु हि ॥

આ પ્રકારે અહીંયાં સુધી આચાર્યચરણ પોતાના અંતઃકરણનું સમાધાન પોતાના સુવચનો દ્વારા કરીને પોતાની નિશ્ચિંતતા પોતાના સ્વીયજનોને કહી રહ્યા છે, જે વાક્યો ફલદશામાં એમના માટે હિતકારી છે.

इस प्रकार यहाँ तक आचार्यचरण अपने अन्तःकरण का समाधान अपने सुवचनों द्वारा करके अपनी निश्चिंतता अपने स्वीयजनों को कह रहे हैं, जो वाक्य फलदशा में उसके लिए हितकारी हैं ।

स्वचित्तं प्रति यत्प्रोक्तं तदाकर्ण्य भजन् हरिम् । स्वदोषेष्वपरित्यागी प्रभुरित्यवबोधतः ॥

परित्यागभयाभावाज्જના નિશ્ચિન્તતાં વ્રજેત્ ।

આપશ્રી આજ્ઞા કરે છે કે પ્રભુ આપણા દોષોને જેવા છતાં પણ આપણો પરિત્યાગ નથી કરતા, આ જાણીને મેં મારા ચિત્ત પ્રતિ જે કહ્યું એને સાંભળીને હરિનું ભજન કરો. પરિત્યાગનો ભય ન હોવાથી જીવ નિશ્ચિંત થઈ જશે, એ અર્થ છે.

आपत्री आज्ञा करते हैं कि प्रभु अपने दोषों को देखते हुए भी अपना परित्याग नहीं करते हैं, यह जानकर मैंने अपने चित्त के प्रति जो कहा उसे सुनकर हरि का भजन करो। परित्याग का भय न होने से जीव निश्चित हो जायेगा, यह अर्थ है।

नन्वैवं कथनादेव नैश्चिन्त्यं तु कथं भवेत् ॥

स्वानुभूतेरभावे तु वाङ्मात्रात्तु हि सिध्यति । इति चेदुच्यते स्वीयान्समाधातुं स्वदासता ॥

परंतु अर्हियों शंका ये थाय छे के, आचार्यचरणोनुं केवण अटलुं कही देवामात्रथी एव निश्चितं केम थई शके छे, न्यां सुधी अने पोताने अेवी अनुभूति न थाय ? अेवी अनुभूति थवा सुधी केवण मौभिकउपथी कही देवार्थी तो आ वात सिद्ध नथी थती? ने अेवी शंका थाय तो आचार्यचरण स्वीयजनोनुं समाधान करवा माटे श्रीकृष्ण प्रति पोतानी दासता अतावे छे.

परंतु यहाँ शंका यह होती है कि, आचार्यचरणों के केवल इतना कह देने मात्र से जीव निश्चित कैसे हो सकता है, जब तक उसे खुद ऐसी अनुभूति न हो ? ऐसी अनुभूति होने तक केवल मौखिकरूप से कह देने से तो यह बात सिद्ध नहीं होती ?? यदि ऐसी शंका हो तो आचार्यचरण स्वीयजनों का समाधान करने के लिए श्रीकृष्ण के प्रति अपनी दासता बता रहे हैं।

आविर्भूतस्वरूपस्य प्रोक्तानुभवबोधने । अनुभूयैतदखिलं मयात्र विनिरूपितम् ॥

आपत्री भगवानना आविर्भूत थयेला स्वउपना अनुभव द्वारा अेवुं कही रह्या छे अथी आपत्री आज्ञा करे छे के हुं भगवानना अखिल स्वउपनो अनुभव करीने अर्ही अधुं कांई विनिर्दिष्ट करी रह्यो छुं.

आपत्री भगवान के आविर्भूत हुए स्वरूप के अनुभव के द्वारा ऐसा कह रहे हैं अतः आपत्री आज्ञा करते हैं कि-मैं भगवान के अखिल स्वरूप का अनुभव कर के यहाँ यह सभी कुछ विनिरूपित कर रहा हूँ।

नात्र कार्यो ह्यविश्वासो भवद्भिः सफलाशिभिः ।

आपत्री आज्ञा करे छे के - सङ्गतानी आशा राभवावाणा तमारे लोकोअे मारा कह्या पर अविश्वास नर्ही करवो नेईअे.

आपत्री आज्ञा करते हैं कि - सफलता की आशा रखने वाले आप लोगों को मेरे कहे पर अविश्वास नहीं करना चाहिए।

ननु दासत्वकृष्णत्वे विरुद्धे भवतः कथम् ॥

किं वा विधाय कापट्यं तथात्वं स्वस्य कथ्यते । महापुरुषवत्तत्र कृष्णत्वं चौपचारिकम् ॥

परंतु अर्हियों अेक प्रश्न आ थाय छे के, पूर्वमां तो आचार्यचरणोने श्रीकृष्णना मुभारविद स्वउप कहेवामां आव्युं अने अर्हियों तेओ पोताने कृष्णना दास कही रह्या छे, तो अेमना आ अंने स्वउप तो परस्पर विरुद्ध नई रह्या छे ? तो पछी शुं अेम सभअवुं के आचार्यचरण कपटपूर्वक पोताने कृष्णदास कही रह्या छे अथवा पछी अेक महापुरुष होवाने नाते आपत्रीने केवण औपचारिकउपथी कृष्ण कहेवामां आव्या छे??

परंतु यहाँ एक प्रश्न यह होता है कि, पूर्व में तो आचार्यचरणों को श्रीकृष्ण का मुखारविद स्वरूप कहा गया और यहाँ वे अपनेआप को कृष्ण का दास कह रहे हैं, तो आपके ये दोनों स्वरूप तो परस्पर विरुद्ध जा रहे हैं तो फिर क्या यह समझना कि आचार्यचरण कपट-पूर्वक अपने आप को कृष्णदास कह रहे हैं या फिर एक महापुरुष होने के नाते आपत्री को केवल औपचारिकरूप से कृष्ण कहा गया है ??

अथवा भाववशतः स्वस्वरूपस्य विस्मृतिः । विरुद्धधर्मता वापि ब्रह्मवत्तत्र रुप्यते ॥

यद्वा व्यामोहसिद्ध्यर्थमेवं रूपनिरूपणम् ।

अथवा तो भावावेशना कारणे आचार्यचरणोने पोताना स्वउपनी न विस्मृति थई गई, ने तेओ पोताने श्रीकृष्णना मुभारविद स्वउप कहेवाने अदले कृष्णना दास कही रह्या छे अथवा तो अ्रह्मनी नेम आचार्यचरण पोतानामां पण विरुद्ध-धर्माश्रय निरूपित करी रह्या छे अथवा तो अन्यमार्गीयोने व्यामोहित करवा माटे शुं आप आवुं कही रह्या छे?

अथवा तो भावावेश के कारण आचार्यचरणों को अपने स्वरूप की ही विस्मृति हो गई, जो वे अपने आप को श्रीकृष्ण का मुखारविद-स्वरूप कहने के स्थान पर कृष्ण का दास कह रहे हैं अथवा तो ब्रह्म की तरह आचार्यचरण अपने आप में भी विरुद्ध-धर्माश्रय निरूपित कर रहे हैं अथवा तो अन्यमार्गीयों को व्यामोहित करने के लिए क्या आप ऐसा कह रहे हैं ??

एवं हि संशये कार्या सद्भिरेवं समाहितः ।

ने आ प्रकारनो संशय मनमां उत्पन्न थाय तो सङ्गनोअे आ प्रकारे समाधान करवुं नेईअे के-

यदि इस प्रकार का संशय मन में उत्पन्न होता हो तो सज्जनों को इस प्रकार से समाधान करना चाहिए कि

यथा रसात्मनो रूपं हरेर्यत्र यथाविधम् । वचः क्रियापि सर्वैवानरूपा यत्र यादृशी ॥

तत्र तादृग्विधं रूपमुच्यते न प्रदर्शनम् । अन्यथा न रसात्मत्वं स्याद्बोद्धृत्वं रसज्ञवत् ॥

जैसे, रसस्वरूप-हरिनुं जेवुं रूप ज्यां प्रकट थाय छे, जेभना वचन, जेभनी समस्त क्रियाओ पण अे जे स्वरूपने अनुरूप प्रकट थाय छे. हरिनुं जेवुं जे स्वरूप ते विशेष परिस्थितिमां प्रकट थाय छे, ते प्रदर्शन मात्र नथी. आवुं होत तो प्रभुने रसात्मक के रसना बोधक केम कहेवामां आवे.

जैसे, रसस्वरूप-हरि का जैसा रूप जहाँ प्रकट होता है, उनके वचन उनकी समस्त क्रियाएँ भी उसी स्वरूप के अनुरूप प्रकट होती हैं। हरि का वैसा ही स्वरूप उस विशेष परिस्थिति में प्रकट होता है, वह कोरा प्रदर्शन मात्र नहीं है अन्यथा तो प्रभु को रसात्मक या रस के बोधक कैसे कहा जा सकता है।

लोकेपि यत्र नाट्यादौ प्रादुर्भवतिचेद्रसः । स्त्रीवेशादिह तत्रैवमुच्यते सैव वर्तते ॥

लोकमां पण नाट्य आदिमां ज्यारे कोर पुंरूप स्त्रीनो वेश धारण करे अने त्यां रस उत्पन्न थाय, तो ते स्त्रीवेशधारी पुंरूपने स्त्री जे कहेवामां आवे छे

लोक में भी नाट्य-आदि में जब कोई पुरुष स्त्री का वेश धारण करे और वहाँ रस उत्पन्न हो, तो उस स्त्रीवेशधारी पुरुष को स्त्री ही कहा जाता है।

एवं हि भगवान् कृष्णो रसात्मा यत्र यादृशः । तद्रसानुभवार्थं हि विशिष्टस्तत्र तादृशः ॥

रसात्मत्वान्तदास्यं च मन्तव्यं तादृशं पुनः । अतो दास्यरसार्थाय प्रादुर्भूतं तदात्मना ॥

भक्त्यात्मकं मुखं तत्र रूपमेव हि तादृशम् । वचोपि तादृशं तत्र सत्यमेव न चान्यथा ॥

ठीक अे जे प्रकारे रसात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ज्यां जे रसने प्रकट करवा छे अे छे, त्यां ते रसविशिष्ट स्वरूपने प्रकट करे छे. अने रसात्मक होवाने कारण प्रभुनुं मुष्णारविंद पण ते जे रसविशिष्ट स्वरूप थरि जय छे. अेथी आपश्री दास्यरसना अनुभव माटे अर्ही आचार्यस्वरूपथी प्रकट थया छे. जेना माटे जेभना भक्तिरूप-मुष्णारविंदस्वरूप-आचार्यचरणोनुं स्वरूप, जेभना वचन पण दास्यरस-स्वरूपात्मक छे, सत्य जे छे जेमां कोरि जीने विचार नर्ही करवो जेछे.

ठीक इसी प्रकार रसात्मा भगवान्-श्रीकृष्ण जहाँ जिस रस को प्रकट करना चाहते हैं, वहाँ उसी रसविशिष्ट स्वरूप को प्रकट करते हैं। और रसात्मक होने के कारण प्रभु का मुखारविंद भी वही रसविशिष्ट स्वरूप हो जाता है। अतः दास्यरस के अनुभव के लिए भगवान् यहाँ आचार्यस्वरूप से प्रकट हुए हैं। इसीलिए उनके भक्तिरूप-मुखारविंदस्वरूप आचार्यचरणों का स्वरूप, उनके वचन भी दास्यरस-स्वरूपात्मक हैं, सत्य ही हैं इसमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिए।

यथा वचो हरेः स्वीयदैन्यभावनिरूपकम् । मानापनोदसमयेऽस्मत्प्रभोस्तद्रसात्मनः ॥

तथाचार्येषु वाक्यानि नात्र कश्चन संशयः ।

जैसे आपणा रसात्मक-प्रभुअे श्रीस्वामिनी/श्रीगोपिकाओने मनाववा माटे दैन्यभाव ना वचनो क्ख्या, तेम जे अर्हीयां पण आचार्यचरण पोताने 'श्रीकृष्णदास' कहीने दैन्यभाव प्रकट करी र्ख्या छे अेथी अर्हीयां कोरि पण प्रकारनो संशय न करवो जेछे.

जैसे हमारे रसात्मक-प्रभु ने श्रीस्वामिनी /श्रीगोपिकाओं को मनाने के लिए दैन्यभाव के वचन कहे, वैसे ही यहाँ भी आचार्यचरण अपने आप को 'श्रीकृष्णदास' कह कर दैन्यभाव प्रकट कर रहे हैं अतः यहाँ किसी भी प्रकार का संशय नहीं करना चाहिए।

वल्लभस्येति नामोक्त्या विश्वासस्थानमुच्यते ॥

आचार्यचरणोअे अर्हीयां पोताना 'वल्लभ' नामनो उल्लेख कर्यो छे जेनाथी जेभना कथन पर जेवने विश्वास थरि जय.

आचार्यचरणों ने यहाँ अपने नाम 'वल्लभ' का उल्लेख किया है, जिससे उनके कथन पर जीव को विश्वास बैठ जाए।

हरेः स्वस्मिंस्तथा नाम्नि नित्या प्रीतिनिरूपिता । ईदृक्स्वरूपविश्वासे नैश्चिन्त्यं निश्चितं मया ॥

आचार्यचरणोअे अर्ही जेभनुं नाम 'वल्लभ'नो उल्लेख करीने हरिमां जेनी नित्य प्रीति निरूपित करी छे तेथी आपश्री आज्ञा करे छे के, भगवानना जेवा स्वरूपमां विश्वास करवाथी हुं निश्चितरूपथी कहुं छुं के जेव निश्चित थरि जे.

आचार्यचरणों ने यहाँ अपने नाम 'वल्लभ' का उल्लेख करके हरि में उनकी नित्यप्रीति निरूपित की है अतः आपश्री आज्ञा करते हैं कि, भगवान के ऐसे स्वरूप में विश्वास करने पर मैं निश्चितरूप से कहता हूँ कि, जीव निश्चित हो जायेगा।

भाग्यभाजां हि विश्वासो भवेच्छ्रीवल्लभप्रभौ । यथा निवेदने चिन्ता नवरत्ने निवारिता ॥

एवमत्र फले चिन्ता स्वकीयानां समुद्धृता ।

श्रीवल्लभप्रभुमां भाग्यवानोने न विश्वास थाय छे. जेम आचार्यचरणोअने नवरत्नग्रंथमां निवेदन माटे थवावाणी चिंतानुं निवारण कर्युं छे, तेवी रीते अर्हियां आ श्लोक द्वारा तेओ इलदानमां थवावाणी चिंतानुं निवारण करी रह्या छे.

श्रीवल्लभप्रभु में भाग्यवानों को ही विश्वास होता है। जिस प्रकार आचार्यचरणों ने नवरत्नग्रंथ में निवेदन के लिए होनेवाली चिंता का निवारण किया है; वैसे यहाँ इस श्लोक द्वारा वे फलदान में होने वाली चिंता का निवारण कर रहे हैं।

संयोगमानविरहाभिधभावत्रयं स्वतः ॥

अनुभूतं तु संयोगः सेवया त्यागतोऽपरः । आज्ञाकरणतो मानभावोत्र सफलीकृतः ॥

स्वरूपस्फूर्तितः पश्चात्पश्चात्तापो निवारितः ।

आचार्यचरणोअने आ ग्रंथमां 'संयोग', 'मान', 'विरह' आभ त्रण प्रकारना भाव निरूपित कर्या छे. संयोग प्रभु सेवा थकी, त्याग करवा थकी विरह अने आज्ञा न मानवाधी प्रभु द्वारा मान करवुं (रिसार्ह नवुं) आभ त्रण भाव प्रदर्शित कर्या छे. आना पछी आचार्यचरणोअने पोताना स्वइपनी स्फूर्ति द्वारा मनना पश्चात्तापनुं निवारण कर्युं. (पोताना स्वइपनी स्फूर्ति होवानुं तात्पर्य आ के जेम आचार्यचरणोअने पोताना संदर्भमां कहुं छे के शुं हुं समर्पण पहले उत्तम हतो? हुं तो प्रभुनो सेवक न छुं, हुं तो प्रभु-आज्ञाथी न भूतल पर आव्यो छुं, भने शा माटे पश्चात्ताप करवो जेईअने ? वगेरे वगेरे.)

आचार्यचरणों ने इस ग्रंथ में 'संयोग', 'मान', 'विरह' यों तीन प्रकार के भाव निरूपित किए हैं। संयोग प्रभुसेवा के द्वारा, त्याग करने के द्वारा विरह और आज्ञा न मानने से प्रभु द्वारा मान करना (रूठ जाना) यों तीन भाव प्रदर्शित किए हैं। इसके पश्चात् आचार्यचरणों ने अपने स्वरूप की स्फूर्ति द्वारा मन के पश्चात्ताप का निवारण किया। (अपने स्वरूप की स्फूर्ति होने का तात्पर्य यह है कि, जैसे आचार्यचरणों ने अपने विषय में कहा है कि - क्या मैं समर्पण से पहले उत्तम था ? मैं तो प्रभु का सेवक ही हूँ, मैं तो प्रभु-आज्ञा से ही भूतल पर आया हूँ, मुझे क्यों पश्चात्ताप करना चाहिए ? इत्यादि)

इति श्रीवल्लभाचार्यपदाम्बुरुहरेणुषु-

आसक्तचित्तस्य विवृतिर्हरिदासस्य पूर्णताम् । अगमत्तेन ते स्वीयं दृढं कुर्वन्तु मां सदा ॥

आ प्रकारे श्रीवल्लभाचार्यचरणोनी रेणुमां आसक्त चित्तवाणा हरिदासनी विवृति पूर्णता पर आवी पहोची छे, जेनाथी आपश्री मुन्य स्वीयने आ मार्गमां सदा दृढ राभे.

इस प्रकार श्रीवल्लभाचार्यचरणकमलों की रेणु में आसक्त चित्तवाले हरिदास की विवृति पूर्णता पर आ पहुँची है, जिससे आपश्री मुझ स्वीय को इस मार्ग में सदा दृढ रखें।

अवद्यमनवद्यं वा विचारयतु मे प्रभुः । यत्प्रसादिदं सर्वं पूर्णतां याति सर्वथा ॥

सन्तोपि कृपया युक्तं मदीयं मूर्खजल्पितम् । श्रीमदाचार्यसम्बन्धात्पश्यन्तु परमादृताः ॥

इति श्रीहरिदासोक्तान्तःकरणप्रबोधविवृतिः समाप्ता ।

मारी विवृति प्रशंसनीय छे के निंदनीय ? आ मारा प्रभु आप विचार करो जे प्रभुनी कृपाथी आ विवृति पूर्णताने प्राप्त थई छे.

परम आदरणीय संत पण कृपापूर्वक मारा आ मूर्खतापूर्ण भाषणने योग्य दृष्टिथी न बुअे कारणके हुं श्रीमदाचार्यचरणथी संबन्धित छुं.

आ श्रीहरिदास द्वारा कहेल अंतःकरण प्रबोधनी विवृति समाप्त थई.

मेरी विवृति प्रशंसनीय है या निंदनीय, यह मेरे प्रभु आप विचार करें, जिन प्रभु की कृपा से यह विवृति पूर्णता को प्राप्त हुई है ॥

परमादरणीय संत भी कृपापूर्वक मेरे इस मूर्खतापूर्ण भाषण को युक्ततर ही देखें क्योंकि मैं श्रीमदाचार्यचरण से संबन्धित हूँ ॥

यह श्रीहरिदास द्वारा कही अन्तःकरणप्रबोध की विवृति समाप्त हुई ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीवल्लभाचार्यचरणविरचित

अन्तःकरणप्रबोधः ।

श्रीश्यामलात्मजश्रीव्रजराजकृतविवरणम् ।



नत्वा स्वाचार्यपादाब्जं सर्वाभीष्टप्रदायकम् ।

तदुक्तबोधवाक्यानि व्याख्यास्ये बोधसिद्धये ॥१॥

* (अथ) श्रीमदाचार्यचरणाः (स्वीयान् प्रति नवरत्ने 'चिन्ता कापि न कार्या' इत्याज्ञाप्य तस्या अन्तःकरण-धर्मत्वादनन्तःकरणस्य च स्वभावचञ्चलत्वाद्बुद्ध्याध्यानादिसंभवे पूर्वोक्ताज्ञाभङ्गसम्भवात्त्रिवेदनं कृतमप्यकृतं स्यादिति तदभावाय प्रमेयबलेन यथा भगवान् भक्तान्तःकरणसम्बन्धी सन् फलप्रकरणे मदमाननिवारणं कृतवाँस्तथात्र) स्वीयान्तःकरणबोधार्थं (तदभिमुखीकृत्य) सप्रौढिस्वस्वरूपज्ञापनपूर्वकमन्तःकरणप्रबोधं निरूपयन्त्येकादशश्लोकैरेकादशेन्द्रियबोधकत्वेन । अन्तः-करणति ।

समस्त ईच्छित वस्तुओने आपनार आपणा आचार्य्यरएकमलोने नमन करीने

तेमना द्वारा कहेल बोधवाक्योनी व्याख्या हुं बोध सिद्धि माटे करी रह्यो छुं ॥१॥

श्रीमद्-आचार्य्यरएओ पोताना स्वीयजनोने नवरत्नग्रंथमां "कोई पण चिंता नहीं करवी जेईअ. (१)" आ आशा करी हती. चिंता तो अंतःकरणमां न थाय छे अने अंतःकरणनो स्वभाव तो चंचल होय छे तेथी जवना अंतःकरणनुं ध्यान संसारनी वृथा वातोमां भटकी शके छे अने आचार्य्यरएओनी नवरत्नमां कहेली आशा भंग थई शके छे. जेथी जव द्वारा भगवानने करेलुं निवेदन पण न कर्या भरोबर न थई नथ छे. आवुं न थाय तेना माटे जेवी रीते भगवाने इलप्रकरणनी अंतर्गत प्रबोधकतोना अंतःकरणमां विराजने प्रमेयबलथी तेमना मद-माननुं निवारण कर्युं, तेवी न रीते अही आचार्य्यरए पोताना स्वीयजनोना अंतःकरणने बोध कराववा माटे (तेमने सामे करीने) पोताना प्रौढि स्वूपने अतावता ११ श्लोको द्वारा अंतःकरण प्रबोध ग्रंथनुं निरूपण करी रह्या छे. ते ११ श्लोको ११ ईन्द्रियोने सूचवे छे. एवे अंतःकरण वगेरे शब्दोनी व्याख्या करवामां आवे छे.

समस्त अभीष्ट वस्तुओं को देने वाले अपने आचार्यचरणकमलों को नमनकर उनके द्वारा कहे गये

बोधवाक्यों की व्याख्या मैं बोधसिद्धि के लिए कर रहा हूँ ॥१॥

श्रीमदाचार्यचरणों ने अपने स्वीयजनों को नवरत्नग्रंथ में "कोई भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए (१)" यह आज्ञा की थी और चिन्ता तो अन्तःकरण में ही होती है और अन्तःकरण का स्वभाव तो चंचल है अतः जीव के अन्तःकरण का ध्यान संसार की वृथा बातों में भटक सकता है और आचार्यचरणों की नवरत्न में की गई आज्ञा भंग हो सकती है, जिससे जीव का भगवान को किया गया निवेदन भी न किए के बराबर ही हो जाता है। ऐसा न हो, इसके लिए जैसे भगवान ने फलप्रकरण के अंतर्गत ब्रजभक्तों के अन्तःकरण में विराजकर प्रमेयबल से उनके मद-मान का निवारण किया, वैसे ही यहाँ अपने स्वीयजनों के अन्तःकरण को बोध कराने के लिए (उन्हें सामने करके) अपने प्रौढिस्वरूप को बताते हुए आचार्यचरण ग्यारह श्लोकों द्वारा, जो ग्यारह-इन्द्रियों के बोधक हैं, अन्तःकरणप्रबोधग्रंथ का निरूपण कर रहे हैं। अब अन्तःकरण इत्यादि शब्दों की व्याख्या की जाती है।

अन्तःकरण मद्वाक्यं सावधानतया शृणु ।

कृष्णात्परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ॥ १ ॥

हे अन्तःकरण? मदीयानामिति शेषः (समाप्तौ भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेदित्युपसंहाराद्बोध्यः) मद्वाक्यं सावधानतया

* () चिन्हान्तर्गतं श्रीमत्पुरुषोत्तमचरणैः संशोध्य सम्पूरितं ज्ञेयम् ।

सावधानीभूय श्रुत्वा श्रुणुष्वेत्यर्थः । स्ववाक्यत्वेनाप्ततोक्ता । श्रवणे सावधानत्वोक्तिः श्रवणानन्तरं तथाकरणार्थम् । अन्तःकरणस्यैकवचनं स्वमार्गं सर्वेषामेकरूपत्वज्ञापनाय जात्यभिप्रायेण । (अत्र सर्वे प्राञ्चः स्वान्तःकरणमेव बोधनीयत्वेनाङ्गीचक्रुः । तदपि श्रीवल्लभाष्टके रूपद्वयेनावतारबोधनात्सर्वोत्तमे 'स्वास्यं प्रादुर्भूतं चकारे'त्युक्तेश्च, मुख्याग्न्यवताराभिप्रायेण सङ्गतमेव,)

आ श्लोक द्वारा आचार्यचरण पोताना निजजनोने संबोधित करीने कही रह्या छे के "हे मारा निजजनोना अंतःकरण! मारा वाक्यने सावधान धरने सांभलो"-आ अर्थ छे. (आचार्यचरणो आ प्रकारे पोताना भक्तोना अंतःकरणने संबोधित करीने कही रह्या छे, आ अटला माटे मानवाभां आवे छे कारणके आ ग्रंथनी समाप्तिमां तेमने "मारा वचनोने सांभलोने भक्त चितारहित थरो" आम कह्युं छे. आधी समन्वय छे के तेओ पोताना भक्तोना अंतःकरणने समन्वयी रह्या छे.) आचार्यचरणोअे अर्हीयां "मारा वाक्यने सांभलो" आम कह्युं छे, जेथी आ वाक्योमां आपश्रीना कथननी प्रामाणिकता समन्वय छे. आपश्रीअे आ आज्ञा करी छे के "सावधान धरने सांभलो-" आनुं तात्पर्य आ छे के, आपश्रीना आ वाक्योने सांभलोने आपणे पण लुवनमां तेवुं न अनुकरण करवुं नोईअे. (टीकाकारे प्रथम श्लोकनो अर्थ आ क्यो छे के आचार्यचरण पोताना स्वीयजनोना अंतःकरणने बोध करावे छे, तो पछी प्रश्न आ उलो थाय छे के अर्हीयां अंतःकरण शब्द अेकवचनमां केम छे ? आवी रीते तो पछी वाक्य-"हे अंतःकरणो! मारा वाक्य सावधान धरने सांभलो" अेम होवुं नोईतुं लुतुं-आनुं स्पष्टीकरण टीकाकार आगणनी पंक्तिमां आपी रह्या छे.) अर्हीयां अंतःकरण शब्द अेकवचनमां आपेवुं छे. जे आ पुष्टिमार्गमां श्रीमहाप्रभुद्वारा अंगीकृत थयेला समस्त लुवोनी अेकरूपता बताववा माटे जतिना अभिप्रायथी छे, आ ज्ञानी लेवुं नोईअे. (आ श्लोक माटे समस्त प्राचीन टीकाकारोअे आ न पक्ष स्वीकार क्यो छे के आचार्यचरणो पोताना न अंतःकरणने समन्वयी रह्या छे. तेमनो आ पक्ष पण संगत (उचित) न छे केमके श्रीवल्लभाष्टकमां आचार्यचरणो माटे आ बताववामां आव्युं छे के, आपश्री 'पुरुषोत्तम' अर्थात् श्रीकृष्णना स्वरूपे अने 'अग्निस्वरूप' अर्थात् आचार्यस्वरूपे; आम जे स्वरूपसहित अवतरित थया छे. आवी न रीते श्रीसर्वोत्तमस्तोत्र मां आपश्री माटे "स्वास्यं प्रादुर्भूतं चकार हि (३)" आ श्लोक थकी आ कहेवायुं छे के भगवाने पोताना मुखारविंदस्वरूप आचार्यचरणोने भूतल पर प्रकट कया. तेथी आचार्यचरणो मुखारि-अवतार होवाने कारणे जे पोताना न अन्तःकरण ने संबोधित करता होय तो ते युक्त न छे. (तात्पर्य आ के आचार्यचरणो ना जे स्वरूपो छे. अेक तो वास्तविकरूपथी आपश्री श्रीकृष्ण न छे अने बीजुं आप आचार्यस्वरूप-अग्निस्वरूप पण छे. तेथी अेक बाबु आपश्री ने केवल श्रीकृष्णस्वरूप-पुरुषोत्तमस्वरूप न मानीअे, त्यारे तो प्रश्न अे उलो थरो के पोते पुरुषोत्तम-भगवान कोई द्रुविधा मां होय अने अेमने पोते पोताना अंतःकरणने समन्वयवुं पडे, आ केवी रीते बनी शके अथवा तो केवी रीते संभव छे ? परंतु आपश्री ने अेक आचार्यस्वरूप-अग्निस्वरूप नी दृष्टिथी नोईअे, तो आवो विचार करवो उचित पण ठरावी शक्य के तेओ पोताना अंतःकरणने बोध आपे छे. टीकाकार अर्ही श्रीवल्लभाष्टक अने श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रनो दाखलो आपीने आ न वात समन्वयवा मांगे छे.)

इस श्लोक द्वारा आचार्यचरण अपने निजजनो को संबोधित कर के कह रहे हैं कि - मेरे निजजनो के अन्तःकरण ! मेरे वाक्य को सावधान होकर सुनो, यह अर्थ है । आचार्यचरण इस प्रकार से अपने भक्तों के अन्तःकरण को संबोधित करके समझा रहे हैं, यह इसलिए माना जा रहा है क्योंकि इस ग्रंथ की समाप्ति में उन्होंने "मेरे वचनों को सुनकर भक्त चितारहित हो जायेंगे", यह कहा है । इससे ज्ञात होता है कि वे अपने भक्तों के अन्तःकरण को समझा रहे हैं । आचार्यचरण ने यहाँ 'मेरे वाक्य को सुनो' यह कहा है; जिससे इन वाक्यों में आपश्री के कथन की प्रामाणिकता ज्ञात होती है । आपश्री ने यह आज्ञा की है कि सावधान होकर सुनो, इसका यह तात्पर्य है कि, आचार्यचरणों के इन वाक्यों को सुनकर हमें अपने जीवन में वैसा ही अनुकरण करना चाहिए । (टीकाकार ने प्रथम श्लोक का अर्थ यह किया है कि आचार्यचरण अपने स्वीयजनो के अन्तःकरणों को बोध करा रहे हैं , तो प्रश्न यह उठता है कि फिर यहाँ अन्तःकरण शब्द एकवचन में क्यो है ? ऐसे में तो फिर वाक्य - हे अन्तःकरणों ! मेरा वाक्य सावधान होकर सुनो-यो होना चाहिए । तो इसका स्पष्टीकरण टीकाकार आगे की पंक्ति में दे रहे हैं ।) यहाँ अन्तःकरण शब्द एकवचन में दिया गया है जो इस पुष्टिमार्ग में श्रीमहाप्रभुजी द्वारा अंगीकृत हुए समस्त जीवों की एकरूपता बताने के लिए जाति के अभिप्राय से है, यह जान लेना चाहिए । (इस श्लोक के लिए समस्त प्राचीन टीकाकारों ने यही पक्ष स्वीकार किया है कि, आचार्यचरण अपने अन्तःकरण को ही समझा रहे हैं । उनका ऐसा पक्ष भी संगत ही है क्योंकि श्रीवल्लभाष्टक में आचार्यचरणों के लिए यह बताया गया है कि, आपश्री 'पुरुषोत्तम' अर्थात् श्रीकृष्ण के स्वरूप एवं 'अग्निस्वरूप' अर्थात् आचार्यस्वरूप यों दो स्वरूपों के सहित अवतरित हुए हैं । इसी प्रकार सर्वोत्तमस्तोत्र में आपश्री के लिए "स्वास्यं प्रादुर्भूतं चकार हि (३)" इस श्लोक द्वारा यह कहा गया है कि भगवान ने अपने मुखारविंद स्वरूप आचार्यचरणों को भूतल पर प्रकट

किया । अतः आचार्यचरण मुख्याग्नि-अवतार होने के कारण यदि अपने ही अंतःकरण को संबोधित करते हों तो यह युक्त ही है (तात्पर्य यह है कि आचार्यचरणों के दो स्वरूप हैं । एक तो वास्तविक रूप से आपश्री श्रीकृष्ण ही हैं एवं दूसरे आप आचार्यस्वरूप-अग्निस्वरूप भी हैं । अतः एक ओर यदि आपश्री को केवल श्रीकृष्ण-स्वरूप-पुरुषोत्तमस्वरूप ही मानें, तब तो प्रश्न यह खड़ा होगा कि स्वयं पुरुषोत्तम-भगवान कोई दुविधा में हों और उन्हें अपने अन्तःकरण को समझाना पड़े यह कैसे संभव है या युक्त है परंतु आपश्री को एक आचार्यस्वरूप-अग्निस्वरूप से देखें, तो ऐसा सोचना उचित ठहराया जा सकता है कि वे अपने अन्तःकरण को बोध कर रहे हैं । टीकाकार यहाँ श्रीबल्लभाष्टक एवं सर्वोत्तमस्तोत्र का उदाहरण देकर यही बात समझाना चाह रहे हैं)

एवं स्वीयानामन्तःकरणं सम्मुखीकृत्य बोधवाक्यमेवाहुः । कृष्णात्परमिति । कृष्णात् 'कृषिर्भूवाचक' इत्यस्य भावानन्दात्मकतया विवरणेन ब्रजवरवल्लभानां भावात्मकात् (परमुत्कृष्टं दैवं देवानां क्रीडाकृतां समूहो वा, "दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यमि" तिकोशात्तासां भाग्यरूपं वा । नास्ति इतरं) नास्तीत्यर्थः । ननु किं स्तुतिरेवेयमित्याशङ्कयामाहुः, वस्तुत इति । तत्रोत्कृष्ट (ताया वास्तव)त्वार्थं विशेषणमाहुः- दोषवर्जितमिति । दोषैर्वर्जितं रहितमित्यर्थः।

(तथा चेदं तद्वास्तवत्वे बीजम् । किञ्च;)

आ प्रकारे आचार्यचरण पोताना स्वीयजनोना अंतःकरणे सामे करीने कृष्णात्परम वगैरे शब्दोधी बोध वाक्यो कही रह्या छे. अर्हीयां आपश्रीनुं तात्पर्य आ छे के - "कृष् शब्द सत्तानुं वाचक छे अने 'ण' शब्द आनंदनुं वाचक छे. आ अनेथी मिश्रित स्वरूप होवाना कारणे भगवानने 'कृष्ण' कहेवामां आवे छे" - आ कथनानुसार भगवान श्रीकृष्णने भावानन्दात्मक बताव्युं छे. तेथी ब्रजगोपिकाओना प्रिय भावात्मक-श्रीकृष्णधी अधिक दोषरहित कोई अन्य देव नथी. (दैवम् शब्दो अर्थ छे 'अन्य देवताओ' अथवा तो रासक्रीडा करवावाणी गोपिकाओनो समूह) अथवा तो शब्दकोषना अनुसार दैव शब्दो अर्थ 'दिष्ट', 'भागधेय' अने 'भाग्य' आम त्राण प्रकारे करेलो छे. तेथी आना अनुसार आचार्यचरण अर्हीयां दैव शब्दो प्रयोग करीने श्रीकृष्णने आ गोपिकाओना भाग्यरूप बतावी रह्या छे, आवो अर्थ करी लो. तेथी तात्पर्य आ थयुं के, श्रीकृष्ण सिवाय अन्य कोई बीजे परम उत्कृष्ट देवता अथवा तो गोपिकाओना भाग्यरूप बीजुं कोई नथी आ अर्थ छे. परंतु अर्ही आ प्रश्न थई शके छे के आचार्यचरण ने आवी रीते श्रीकृष्णने सर्वश्रेष्ठ अने दोषरहित कही रह्या छे तो शुं आ केवण स्तुति व छे अथवा तो आनी पाछण कोई गूढ तात्पर्य पण छे? तो आना प्रत्युत्तरमां आपश्रीना वस्तुतः शब्द उपर ध्यान आपवुं जेईअे. भगवाननी आवी उत्कृष्टतानी वास्तविकता बताववा माटे आपश्रीअे तेमने दोषवर्जितम् कहुं छे जेनुं तात्पर्य आ छे के श्रीकृष्ण समस्त दोषोधी रहित छे अने आचार्यचरणो द्वारा वस्तुतः कहेवानी पाछणनुं कारण पण आ व छे.

इस प्रकार आचार्यचरण अपने स्वीयजनों के अन्तःकरण को सामने करके कृष्णात्परम् इत्यादि शब्दों से बोधवाक्य कह रहे हैं । यहाँ आपश्री का तात्पर्य यह है कि- 'कृष्' शब्द सत्ता का वाचक है एवं 'ण' शब्द आनंद का वाचक है । इस दोनों से मिश्रित स्वरूप होने के कारण भगवान को 'कृष्ण' कहा जाता है, इस कथनानुसार भगवान-श्रीकृष्ण को भावानन्दात्मक बताया गया है अतः ब्रजगोपिकाओं के प्रिय भावात्मक-श्रीकृष्ण से अधिक दोषरहित कोई अन्य देव नहीं है । (दैवं शब्द का अर्थ है 'अन्य देवता' अथवा तो रासक्रीडा करने वाली गोपिकाओं का समूह । अथवा तो शब्दकोश के अनुसार 'दैव' शब्द का अर्थ 'दिष्ट', 'भागधेय' एवं 'भाग्य' यों तीन प्रकार से किया गया है अतः इसके अनुसार आचार्यचरण 'दैव' कह कर श्रीकृष्ण को इन गोपिकाओं के भाग्यरूप बता रहे हैं; ऐसा अर्थ कर लें । सो तात्पर्य यह हुआ कि श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा परम उत्कृष्ट देवता या फिर गोपिकाओं का भाग्यरूप और कोई नहीं है, यह अर्थ है । किंतु यहाँ किसी को एक प्रश्न यह हो सकता है कि आचार्यचरण जो इस प्रकार से श्रीकृष्ण को सर्वश्रेष्ठ एवं दोषरहित कह रहे हैं तो क्या यह केवल स्तुति ही है या फिर इसके पीछे कोई गूढ तात्पर्य भी है ? तो इसके प्रत्युत्तर में आपश्री के वस्तुतः शब्द पर ध्यान देना चाहिए । भगवान की ऐसी उत्कृष्टता की वास्तविकता बताने के लिए आपश्री ने उन्हें दोषवर्जितम् कहा है, जिसका अर्थ यह है कि श्रीकृष्ण समस्त दोषों से रहित हैं और आचार्यचरणों का वस्तुतः कहने के पीछे कारण भी यही है ।

कृष्णपदात् सदानन्द उक्तस्तेन यथा गोपिकार्थं कोटिकन्दर्पलावण्यं प्रकटीकृत्य प्रकटस्तथा सर्वत्रापि तदर्थं प्रकटो भविष्यतीति ज्ञापितम् । तेनान्यत्र क्रीडारूपत्वं नास्त्येवेति जीवानामन्यत्र नायकभावेन भजनं दोषरूपमेवेति भावो दोषवर्जितमित्यनेन ज्ञापितः । अत एव 'वीरयोषिता'मित्यत्र 'ब्रजनितम्बिनी' वाक्यव्याख्याने श्रीमदाचार्यै 'न हि कृष्णादन्य एवं सम्बोधनमर्हती' ति निरूपितम् । आद्य श्रीमहिषीभिरपि 'त्वक्स्मश्रुतोमे' तिपद्येनान्यत्र कान्तभावस्य दोषरूपता निरूपिता । (तथा च स्वक्रीडानुरोधेन स्वीयभाग्यरूपतया च स्वयमेवास्माकं करिष्यतीति निश्चित्य चिन्ता न कार्येत्यर्थः।)

અને આપશ્રીએ 'કૃષ્ણ' પદ કહીને ભગવાન શ્રીકૃષ્ણને સદાનંદ કહ્યું છે, જેથી આ જ્ઞાત થાય છે કે જેવી રીતે ગોપિકાઓ માટે પ્રભુ પોતાના કોટિકંદર્પલાવણ્ય સ્વરૂપથી પ્રકટ થયા હતા. તેવી રીતે અહીંયાં પણ તેઓ સમસ્ત જીવોને આનંદ આપવા માટે પ્રકટ થશે. તેથી આ સિદ્ધ થાય છે કે પુષ્ટિભક્તિમાર્ગ સિવાય પ્રભુનું બીજું ક્યાંય પણ કીડાડપ સ્વરૂપ છે જ નહીં. તેથી જીવો માટે ભગવાન શ્રીકૃષ્ણ સિવાય બીજા કોઈ પણ દેવતાને નાયકરૂપથી ભજવું દોષરૂપ જ છે. આ ભાવ આચાર્યચરણોએ દોષવર્જિતમ્ શબ્દ દ્વારા કહ્યું છે. આ જ કારણે શ્રીમદ્-ભાગવતનાં "વીરયોષિતાં (શ્રી.ભા.૧૦/૩૧/૬) આ શ્લોકની અંતર્ગત આવેલ વ્રજનિતમ્બિનિયો (ગોપિકાઓ) દ્વારા કહેલ આ વાક્યનું વ્યાખ્યાન કરતાં શ્રીમદ્-આચાર્યચરણોએ ભગવાન શ્રીકૃષ્ણ માટે

આ કહ્યું છે કે ગોપિકાઓએ શ્રીકૃષ્ણને 'વીરશિરોમણિ' કહીને સંબોધિત કર્યાં છે, જે સંબોધન માટે શ્રીકૃષ્ણ સિવાય બીજું કોઈ પણ યોગ્ય નથી. આની પહેલાં મહિષીગીતમાં પણ રૂકિમણીજીએ ભગવાન માટે "આ મનુષ્યનું શરીર ઉપરથી ચામડી, દાઢી-મૂંછ, નખ કેશ વગેરેથી ઢંકાયેલું છે અને ભીતર મલમૂત્રથી. આવા શરીરને તે જ સ્ત્રી પોતાનો પતિ માનીને સેવન કરે છે, જેને ક્યારેય આપના ચરણારવિંદોનું મકરંદ પ્રાપ્ત ન થયું હોય. (શ્રી.ભા.૧૦/૬૦/૪૫)" આ પદ દ્વારા ભગવાન-શ્રીકૃષ્ણ સિવાય અન્ય બીજા કોઈમાં પણ કાન્તભાવ રાખવો દોષયુક્ત બતાવ્યું છે. આથી ભગવાન પોતાની કીડા દ્વારા અને સ્વીયજનોના ભાગ્યરૂપ હોવાના કારણે આપણને જે કાંઈ પણ ઈચ્છિત છે તે બધું પોતે જ કરશે, આવું મનમાં નિશ્ચિત કરીને ચિંતા ન કરવી જોઈએ, આ અર્થ છે.

ઔર, આપશ્રીને 'કૃષ્ણ' પદ કહીને ભગવાન-શ્રીકૃષ્ણને સદાનંદ કહ્યું છે, જેથી આ જ્ઞાત થાય છે કે જેવે ગોપિકાઓં કે લિષે પ્રભુ અપને કોટિકંદર્પલાવણ્ય સ્વરૂપ સે પ્રકટ હુષે થે, વૈસે યહાં ધી વે સમસ્ત જીવોં કો આનંદ દેને કે લિષે પ્રકટ હોંગે ઇસલિષે યહ સિદ્ધ હોતા હૈ કિ પુષ્ટિભક્તિમાર્ગ કે અતિરિક્ત પ્રભુ કા ઔર કહીં ક્રીડારૂપ હૈ હી નહીં અતઃ જીવોં કે લિષે ભગવાન-શ્રીકૃષ્ણ સે અતિરિક્ત કિસી ઔર દેવતા કો નાયકરૂપ સે ભજના દોષરૂપ હી હૈ, યહ ભાવ આચાર્યચરણોં ને દોષવર્જિતમ્ શબ્દ દ્વારા બતાયા હૈ । ઇસી કારણ શ્રીમદ્-ભગવત કે "વીર યોષિતાં (શ્રી.ભા.૧૦/૩૧/૬) ઇસ શ્લોક કે અંતર્ગત આ વ્રજનિતમ્બિનિયોં (ગોપિકાઓં) દ્વારા કહે ઇસ વાક્ય કા વ્યાખ્યાન કરતે સમય આચાર્યચરણોં ને ભગવાન-શ્રીકૃષ્ણ કે લિષે યહ કહા હૈ કિ ગોપિકાઓં ને શ્રીકૃષ્ણ કો 'વીરશિરોમણિ' કહ કર સંબોધિત કિયા હૈ, જિસ સંબોધન કે લિષે શ્રીકૃષ્ણ સે અતિરિક્ત અન્ય કોઈ ધી યોગ્ય નહીં હૈ । ઇસકે પૂર્વ મહિષીગીત મેં ધી રૂકમણિજી ને ભગવાન કે લિષે "યહ મનુષ્ય કા શરીર ઉપર સે ચમડી, દાઢી-મૂંછ, નખ, કેશોં આદિ સે ઢંકા હૈ ઔર અંદર મલ-મૂત્ર સે । ઇસે શરીર કો વહી સ્ત્રી અપના પતિ માનકર સેવન કરતી હૈ, જિસે કમી આપકે ચરણારવિંદોં કા મકરંદ પ્રાપ્ત ન હુઆ હો (શ્રી.ભા.૧૦/૬૦/૪૫)" ઇસ પદ દ્વારા ભગવાન-શ્રીકૃષ્ણ કે અતિરિક્ત અન્ય કિસી મેં કાન્તભાવ રખના દોષરૂપ બતાયા હૈ । અતઃ ભગવાન અપની ક્રીડા કે દ્વારા ઇવં સ્વીયજનોં કે ભાગ્યરૂપ હોને કે કારણ હમેં જો કુછ ઘાંછિત હૈ વહ સબકુછ સ્વયં હી કરેંગે, ઇસા મન મેં નિશ્ચિત કરકે ચિન્તા નહીં કરની ઇચ્છિત, યહ અર્થ હૈ ।

(નનુ સત્યમેવં તથાપિ ભગવતો બ્રહ્મશ્રુત્યાદિદુરાપચરણરેણુત્વે સ્વતુચ્છત્વે ચ સ્ફુરિતે સોત્પદ્યોતૈવેતિ કથં તન્નિવૃત્તિરિત્યાકાઙ્ગાયાં તન્નિવૃત્ત્યર્થમેવં) દોષરહિતસ્વરૂપં વિચાર્યં તત્ર માનાપેક્ષાદિદોષરાહિત્યેનાજૈવ કાર્યેતિ સાઢ્ઢૈંચ્છિભિર્વદન્તઃ પ્રથમં (તુચ્છત્વસ્ફૂર્તેરકિશ્ચિત્કરત્વાય નિદર્શનમાહુઃ,) ચાણ્ડાલી ચેદિતિ ।

ચાણ્ડાલી ચેદ્રાજપત્ની જાતા રાજા ચ માનિતા ।

કદાચિદપમાને વા મૂલતઃ કા ક્ષતિર્ભવેત્ ॥ ૨ ॥

ચાણ્ડાલી ચત્કદાચિદ્રાજા માનિતા સતી રાજપત્ની ચ જાતા । ચકારેણ સ્વસ્યાપિ તથાભિમાનોત્પત્તિર્જાતેતિ જ્ઞાપ્યતે । (તદા) તાદૃશ્યાઃ કદાચિદપમાને વા મૂલતો રાજપત્નીત્વતઃ કા ક્ષતિર્ભવેત્ ? ન કાપીત્યર્થઃ ।

ચાલો માની લઈએ કે આ વાત સાચી છે તો પણ મનમાં એક સંશય આ રહે છે કે ભગવાનની ચરણરેણુ તો બ્રહ્મ, શ્રુતિ વગેરેને પણ દુર્લભ છે. અને જીવ તો એમની સામે અતિ તુચ્છ છે તેથી મનમાં ચિંતા બની રહેવી તો સ્વાભાવિક છે કે તેઓ આપણો ઉદ્ધાર કરશે કે નહીં ? આ ચિંતા કેવી રીતે દૂર થાય ? તો આવી ચિંતાની નિવૃત્તિ માટે સર્વપ્રથમ મનમાં ભગવાનના દોષરહિત સ્વરૂપનો વિચાર કરીને આપણું પોતાનું માન સન્માન રાખવું અથવા તો તેમનાથી કોઈ પણ પ્રકારનો સ્વાર્થ રાખવા જેવા દોષોથી રહિત થઈને તેમની આજ્ઞાનુસાર જ કાર્ય કરવું જોઈએ. આ આગળના સાડા ત્રણ શ્લોકો દ્વારા આચાર્યચરણ સૌથી પહેલાં ચાંડાલી ચેત્ વગેરે શબ્દોથી કહી રહ્યા છે (ભગવાન સામે પોતાની તુચ્છતા જાણી લેવાના કારણે આપણી અસમર્થતા બતાવવા માટે આચાર્યચરણ ચાંડાલીનું ઉદાહરણ આપીને સમજાવી રહ્યા છે.)

કોઈ ચાંડાલી સ્ત્રી કોઈ રાજા દ્વારા સન્માનિત થઈ અને એની પત્ની બની ગઈ. જેવી રીતે ચાંડાલીને પોતાનામાં રાજપત્ની થવાનું અભિમાન થયું તેવી રીતે આપણને પણ એવું અભિમાન થઈ જાય છે, આ જ શબ્દથી જણાય છે. આચાર્યચરણ કહે છે કે હવે

मानो के ते यांडालीनुं क्यारेय अपमान पण थर्ष ऋय तो मूलतः अर्थात् राजपत्नीना संदर्भमां तेनी शुं क्षति थर्ष ? कांई पण नहीं, आ अर्थ छे.

चलो मान लें कि, यह बात सच है तथापि मन में एक संशय यह रहता है कि, भगवान की चरणरेणु तो ब्रह्म-श्रुति आदि को भी दुर्लभ है और जीव तो उनके सामने अति तुच्छ है अतः मन में चिन्ता तो बनी रहनी स्वाभाविक है कि वे हमारा उद्धार करेंगे या नहीं ? यह चिन्ता कैसे दूर हो ? तो ऐसी चिन्ता की निवृत्ति के लिए सर्वप्रथम मन में भगवान का दोषरहित स्वरूप विचार करके अपना मान-सम्मान या फिर उनसे किसी भी प्रकार का स्वार्थ रखने जैसे दोषों से रहित होकर उनकी आज्ञानुसार ही कार्य करना चाहिए, यह आगे के साढ़े तीन श्लोकों द्वारा आचार्यचरण सबसे पहले चाण्डाली चेत् इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। (भगवान के समक्ष अपनी तुच्छता जान लेने के कारण अपनी असमर्थता बताने के लिए आचार्यचरण चाण्डाली का उदाहरण देकर समझा रहे हैं।)

कोई चाण्डाली स्त्री किसी राजा के द्वारा सम्मानित हुई और उसकी पत्नी बन गई। जैसे उस चाण्डाली को अपने राजपत्नी होने का अभिमान हुआ, वैसे हमें भी ऐसा अभिमान हो जाता है, यह च शब्द से ज्ञात होता है। आचार्यचरण कहते हैं कि, अब मानो उस चाण्डाली का कदाचित् अपमान भी हो गया तो मूलतः अर्थात् राजपत्नी के संदर्भ में उसकी क्या क्षति हुई ? कुछ भी नहीं, यह अर्थ है।

माने कारणं राजपत्नीत्वं न तु चाण्डालीत्वम् । राजपत्नीत्वेपि कारणं राजसम्माननं न तु स्वधर्मः कोपि । तस्मात्तत्कृतापमानस्यापि न राजपत्नीत्वान्यथाकारित्वशङ्के । यथा' राजपत्नीत्वसम्पत्त्यनन्तरमपमानेपि न तद्धानिस्तथात्र समर्पणानन्तरं (परीक्षाद्यर्थं) द्वितीयसंपूर्त्यर्थं वा भगवतापमानेपि कृते स्वस्य पुनरन्यभावो न भविष्यति । समर्पणेन यो भावो जातः स तु जात एव, (पुनर्यदा परीक्षादिपूर्तिः) संयोगरसदानेच्छा (वा) भविष्यति तदा पुनस्तथैव मानप्राप्तिरपि भविष्यतीति विचार्यम् ।

तेनुं सम्मानित थवानुं कारण तो राजपत्नी अनी जवुं छे. कोई यांडाली होवाथी अेनुं मान थोडुं छे ? अने राजपत्नी बनवामां पण कारण तो राजा द्वारा सम्मान भणवुं ज छे, अेनी पोतानी योग्यता नहीं, तेथी जे राजा क्यारे अेनुं अपमान पण करी दे तो तेनुं राजपत्नीनुं पद कांई छीनवाय नहीं ऋय. तेथी जे प्रकारे यांडालीना राजपत्नी अनी जवा पछी तेनुं अपमान थर्ष ऋय तो पण अेनी कांई हानि थवानी नहीं, ठीक ते ज प्रकारे अही भगवानने सर्वसमर्पण करी दीधा पछी जे भगवान परीक्षा करवा माटे अथवा तो विप्रयोगरसनुं दान करवा माटे जवनुं अपमान पण करे तो पण जवनो अन्यथा भाव नहीं थाय. (अर्थात् जवोअे तो प्रभुने सर्व समर्पण करीने अेअनी शरणागति लीधी छे. तेथी तेअना उद्धार थवामां कोई पण अंतर आववानुं नहीं, आ अर्थ छे.) समर्पण द्वारा तेने प्रभुमां जे स्थायी भाव सिद्ध थर्ष यूक्यो छे, ते तो रहेशे ज अने पाछी ज्यारे प्रभुनी परीक्षा करवानी ईच्छा पूर्ण थर्ष जशे अने तेअने जवने संयोगरसनुं दान करवानी ईच्छा थशे, त्यारे जवने ईरी पाछुं ते ज प्रकारे सम्मान पण प्राप्त थर्ष जशे, आनो विचार करी लेवो जेईअे.

उसके सम्मानित होने का कारण तो राजपत्नी बन जाना ही है, कोई चाण्डाली होने से उसका मान थोड़े ही है । और राजपत्नी बनने में भी कारण तो राजा द्वारा उसे सम्मान दिया जाना है, उसकी खुद की योग्यता नहीं। अतः यदि राजा उसका मानो कभी अपमान भी कर दे, तो उससे उसका राजपत्नी का पद थोड़े ही छिन जाने वाला है ? इसलिए जिस प्रकार चाण्डाली के राजपत्नी बन जाने के पश्चात् उसका अपमान हो जाने पर भी उसकी कोई हानि होने वाली नहीं है, ठीक उसी प्रकार यहाँ भगवान को सर्वसमर्पण कर देने के पश्चात् यदि भगवान परीक्षा करने के लिए अथवा तो विप्रयोग-रस का दान करने के लिए जीव का अपमान भी करें, तो भी जीव का अन्यथाभाव नहीं होगा (अर्थात् जीव ने तो प्रभु को सर्वसमर्पण करके उनकी शरणागति ली है अतः उसके उद्धार होने में कोई भी अंतर आने वाला नहीं है, यह अर्थ है।) समर्पण के द्वारा उसे प्रभु के प्रति जो स्थायीभाव सिद्ध हो चुका है, वह तो रहेगा ही; और पुनः जब प्रभु की परीक्षा करने की इच्छा पूर्ण हो जायेगी और उन्हें जीव को संयोगरस का दान करने की इच्छा होगी, तब जीव को पुनः उसी प्रकार प्रभु से सम्मान भी प्राप्त हो जायेगा: इसका विचार कर लेना चाहिए।

(तथा द्वितीयव्याख्यानरीत्या राजपत्नीत्वमिव समर्पणानन्तरं स्वस्य सेवायोग्यत्वमेव विचार्य, न तु चाण्डालीत्वमिव स्वतुच्छत्वमपि विचार्यम् । भगवता पुष्टिमार्गस्य स्वार्थं प्रकटितत्वेन स्वोरीचिकीर्षितजीवदोषानादरणपुरःसरं तदङ्गीकरणे अन्तरा च जीवदोषादासक्तौ भगवानेवेति न्यायेन विलम्बेपि पूर्वात्परबलीयस्त्वन्यायेन नाङ्गीकारतिरस्कारो, नापि दोषप्राबल्यमिति न तुच्छत्वाऽवसर इत्याश)येनाहुः । समर्पणादहमिति ।

(आ ज वस्तुने जीव व्याख्याथी समजवुं होय तो आभ समजवुं जेईअे के समर्पण करी लीधा पछी ते राजपत्नीनी

१ (किञ्च यथा राजसम्पत्त्यनन्तरं पूर्वस्वरूपं न विचार्य, तद्विचारे सति स्वहीनत्वे स्फुरिते तस्य रसहानिः स्यात्तथा समर्पणे कृतेपि स्वस्वरूपविचारेण प्रभुः कृपां करिष्यति न वेति हीनत्वं न विचार्यम् ।) इति श्रीपुरुषोत्तमचरणैरनादृताः पङ्क्तयः स्वहस्ताक्षरशोधितग्रन्थे सन्ति ।

जेम अे ळ विचार करवो ढेईअे के आपणे प्रभुनी सेवाने योग्य ळ छीअे, आ नही के चांडालीनी जेम तुच्छतानो विचार करी लेवामां आवे. भगवाने पुष्टिमार्ग अेमना पोताना माटे प्रकट कर्यो छे तेथी भगवाने जे लुवोने स्वीकार करी लीधा छे, अेमना दौषोनी उपेक्षा करीने पछी लले ते लुवनो अंगीकार करवामां कोई बाधा पण आवी नय अथवा तो लुवनी संसारासक्ति ढेईने भगवान अेने अंगीकार करवामां विलंब पण करे (बुओ “आसक्तौ भगवानेव/पु.प्र.म.ले./१८”), तो पण स्मरण रहे के, लुवनी पहेलानी स्थिति करतां समर्पण कर्या पछी नी स्थिति वधारे सारी छे. तेथी न अंगीकृतलुवनो तिरस्कार थरो अने न भगवत्कृपा सामे लुवना दोष ळ प्रबल थई शके छे तेथी लुवने पोतानी तुच्छता मानवानो कोई अवसर नथी. आ ळ आशयथी आचार्यचरणो आगण समर्पणादह वगेरे शब्दोथी कही रह्या छे.

(इसी को दूसरी व्याख्यानरीति से समझना चाहें. तो यों समझें कि समर्पण के पश्चात् उस राजपत्नी की भाँति यही विचार करना चाहिए कि, हम प्रभु की सेवा के योग्य ही हैं, यह नहीं कि चाण्डाली की भाँति तुच्छता का विचार किया जाय। भगवान ने पुष्टिमार्ग खुद अपने लिए प्रकट किया है अतः भगवान ने जिन जीवों को स्वीकार करके चुना है, उनके दोषों को उपेक्षा करके उस जीव का अंगीकार करने में कोई बाधा भी आ जाय या फिर जीव की संसार में अत्याधिक आसक्ति देखकर भगवान उसका अंगीकार करने में विलंब भी करें (देखें “आसक्तौ भगवानेव-पु०प्र०म०भे०/१८”), तो भी स्मरण रहे कि, जीव की पूर्वस्थिति से तो समर्पण होने के पश्चात् की स्थिति अधिक अच्छी है अतः न अंगीकृत जीव का तिरस्कार होगा और न ही भगवत्कृपा के आगे जीव के दोष प्रबल हो सकते हैं अतः जीव को अपनी तुच्छता मानने का कोई अवसर नहीं है, इसी आशय से आचार्यचरण आगे समर्पणादहं इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

समर्पणादहं पूर्वमुत्तमः किं सदा स्थितः ।

का ममाधमता भाव्या पश्चात्तापो यतो भवेत् ॥ ३ ॥

समर्पणात् पूर्व किमहं सदा उत्तमः स्थितः ? अपि तु न । तथा च समर्पणात् पूर्व येन भगवद्दत्तमानापेक्षा स्यात्तादृग्भावयुक्तस्तु न स्थितः । तदनन्तरमेव तथाजातस्तेनापमानेपि (मम) काधमता भाव्या (भाविनी, विभावनीया वा) । यतः समर्पणानन्तरं पश्चात्तापो भवेत् ? । कदाचित्कर इत्यनेनाश्वासनार्थं स्वसहजधर्म आगन्तुकधर्मश्च स्मारितः ।

आचार्यचरण कहे छे के-शुं समर्पण कर्या पहेलां हुं सदा उत्तम ळ हतो ? अल्के नहोतो. तेम ळ भगवानं द्वारा आपेल जे सम्माननी अपेक्षा मने थई, मारो आवो उत्तम भाव समर्पण पहेलां तो नहोतो अपितु समर्पण कर्या पछी ळ मारुं सम्मान वधुं छे. तेथी जे मारुं अपमान पण थई गयुं तो मारे मारी अधमतानी भावना पण शा माटे करवी ढेईअे, जेथी मने समर्पण कर्या पछी पश्चात्ताप थाय ?..... (अही ‘कदाचित्कर’.....थी लईने ‘स्मारितः’ सुधीना वाक्य अधूरा प्राप्त थाय छे, तेथी आनो अनुवाद कर्यो नथी.)

आचार्यचरण कहते हैं कि - क्या समर्पण करने से पूर्व मैं सदा उत्तम ही था? बल्कि नहीं था। इसी प्रकार भगवान के द्वारा दिए गये जिस सम्मान की अपेक्षा मुझे हुई, मेरा ऐसा उत्तमभाव समर्पण के पहले तो नहीं था अपितु समर्पण करने के पश्चात् ही मेरा मान बढ़ा है अतः यदि मेरा अपमान हो भी गया, तो मुझे अपनी अधमता की भावना क्यों करनी चाहिए जिससे मुझे समर्पण के बाद पश्चात्ताप हा (यहाँ पर कदाचित्कर..... से लेकर स्मारितः तक के वाक्य अधूरे प्राप्त होते हैं अतः इनका अनुवाद नहीं किया गया है।)

अतः परमर्द्धेन नित्याङ्गीकाररूपं भगवद्धर्मं तदर्थं स्मारयन्तस्तेन, प्रत्युत्तमानकरणात्मकस्वरूपसम्पत्तिर्भविष्यति, पुनरन्यथा सा न भविष्यत्येव, भगवदङ्गीकारस्य नित्यत्वादित्याहुः । सत्यसङ्कल्पत इति ।

सत्यसङ्कल्पतो विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यति ।

आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहन्यथा भवेत् ॥ ४ ॥

सत्यसङ्कल्प्यता विष्णुर्व्यापकः, अन्यथा तु न करिष्यति । यथा ‘ये यथा मां प्रपद्यन्ते,’ ‘द्विःस्थापयति नाश्रिता (नि’त्यादिः सङ्कल्पः सत्यो विषयाव्यभिचारी, तथा) ‘मां प्रपन्नो जनः कश्चिन्न (भूयोर्हति शोचितु)’ मित्यादि(रपि) भगवतः सत्य एव सङ्कल्पस्तेन पुनस्तं (प्रपन्नमन्य)था न करिष्यति । (शोकयुक्तं न करिष्यतीत्यर्थः । किञ्च;) विष्णुर्व्यापकस्तेन विप्रयोगसमयेपि रसदानं करिष्यति, ‘मया परोक्षं भजते’तिन्यायेनेति ज्ञाप्यते ।

हवे आना पछी लुवने पश्चात्ताप न थाय अेना माटे आचार्यचरण भगवानना नित्य अंगीकाररूप भागवतधर्मनुं स्मरण आगणना अडधा श्लोक द्वारा करावी रह्या छे जेने समन्या पछी उल्लुं लुवमां ळ प्रभु सामे रिसाई जवानी प्रवृत्ति उत्पन्न थई शके छे कारण के अेनो समर्पण स्वीकार्या पछी तो भगवान कोई पण परिस्थितिमां अेनो अंगीकार तो करशे ळ. परंतु हवे लविष्य मां

आपुं नहिं थाय कारण के भगवान द्वारा अंगीकार करवुं तो नित्य छे तेथी ज्वना आवा दोषो ने पण जेया वगर भगवान पोताना संकल्प ने सत्य करशे. आने आचार्यचरण सत्य संकल्पतः वगेरे शब्दोथी कही रह्या छे.

आचार्यचरण आज्ञा करे छे के भगवान सत्यसंकल्पी छे तेथी ज तेमने विष्णु कहेवामां आवे छे जे व्यापक छे, तेओ अन्यथा नहीं करे. जेवी रीते “जे व्यक्ति मने जे भावथी शरणागत थाय छे, हुं अने ते जे भावथी प्राप्त थाउं छुं (भ.गी.४/११)”. “राम जे वार बाण नथी चलावता, कोर्धने जे वार आश्रय नथी आपता, याचकने जे वार दान नथी आपता अने अेक ज वातने जे वार नथी कहेता. (रामायण)” वगेरे वाक्यमां कहेल भगवानना संकल्प सत्य छे अर्थात् तेमना संकल्पोनुं स्वरूप भगवतुं नथी तेथी श्रीमद् भागवतमां कहेल “जे पुत्र मारी शरणमां आवी जय छे तेना माटे जेवी कोर्ध वस्तु नथी रही जती जेना माटे ते शोक करे (श्री.भा.१०/५१/४४) वगेरे भगवद्-वाक्योथी पण आ ज सिद्ध थाय छे के भगवाननो संकल्प सत्य ज छे. तेथी तेओ शरणागतज्व प्रति अन्यथा नहीं करे अर्थात् तेने शोकातुर नहीं करे, आ अर्थ छे. अने आ पण समझे के भगवान विष्णु तो व्यापक छे तेथी विप्रयोगना समये पण ज्वने भगवद्-रसनुं दान करशे, आ श्रीमद्-भागवतमां कहेल “हे गोपीओ! तमारा मननी रति पीजे कयांय न लागी जय अेटला माटे परोक्षरूपथी तमोथी प्रेम करतां हुं छुपाई गयो हतो (श्री.भा.१०/३२/२१)” आ भगवद्-वाक्य द्वारा समजय छे.

अब इसके पश्चात् जीव को पश्चात्ताप न हो, इसके लिए आचार्यचरण भगवान के नित्य अंगीकारूप भगवद्धर्म का स्मरण आगे के आधे श्लोक द्वारा करा रहे हैं, जिसे समझने के बाद उल्टे जीव में प्रभु से ही रूठ जाने की वृत्ति पनप सकती है क्योंकि भगवान किसी भी परिस्थिति में अंगीकार तो करेंगे ही। किंतु अब आगे भविष्य में ऐसा नहीं ही होगा क्योंकि भगवान द्वारा अंगीकार किया जाना तो नित्य ही है अतः जीव के ऐसे दोषों को भी अनदेखा करके भगवान अपने संकल्प को सत्य करेंगे। इसे आचार्यचरण सत्यसङ्कल्पतः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि भगवान सत्यसंकल्पी हैं इसी कारण उन्हें विष्णु कहा जाता है जो व्यापक हैं, वे अन्यथा नहीं करेंगे। जैसे “जो मुझे जिस भाव से शरणागत होता है, मैं उसे वैसे ही भाव से प्राप्त होता हूँ (भ०गी०४/११),” “राम दो बार बाण नहीं चलाते; किसी को दो बार आश्रय नहीं देते, याचक को दो बार दान नहीं देते और एक ही बात को दो बार नहीं कहते (रामायण)” इत्यादि वाक्यों में कहे भगवान के संकल्प सत्य हैं अर्थात् उनके संकल्पों का स्वरूप बिगड़ता नहीं है अतः श्रीमद्-भागवत में कहे, “जो पुरुष मेरी शरण में आ जाता है, उसके लिए फिर कोई ऐसी वस्तु नहीं रह जाती जिसके लिए वह शोक करे (श्री०भा०१०/५१/४४)” इत्यादि भगवद्-वाक्यों से भी यही सिद्ध होता है कि भगवान का संकल्प सत्य ही है इसलिए वे पुनः उस शरणागत जीव के प्रति अन्यथा नहीं करेंगे अर्थात् उसे शोकातुर नहीं करेंगे, यह अर्थ है। और भी, यह भी समझें कि भगवान-विष्णु तो व्यापक हैं अतः विप्रयोग के समय में भी जीव को भगवद्-रस का दान करेंगे, यह श्रीमद्-भागवत में कहे, “हे गोपियों! तुम्हारे मन की वृत्ति कहीं और न लग जाए इसलिए परोक्षरूप से तुम लोगों से प्रेम करता हुआ ही मैं छिप गया था (श्री०भा०१०/३२/२१)” इस भगवद् वाक्य द्वारा ज्ञात होती है।

एवं (स्वस्वरूपधर्म भगवद्धर्मश्च स्मारयित्वा स्वीयसेवकस्य रक्षणाय यतः) प्रभुरन्यथा न करिष्यत्यतो भावात्मकं समर्पणमनुसन्धायापमानजं क्लेशं परित्यज्य, भगवान् यथैवेच्छापूर्वकमाज्ञापयति तथैव कार्यमित्याहुः। आज्ञैवति । सतत निरन्तरमाज्ञैव काया । अन्यथा तदकरणे स्वामिनः प्रभोर्द्रोहो भवेत् । भगवता स्वकार्यकरणार्थं (स्वदासीय) देहकरणात्तदाज्ञाया अकरणे बाधकमेव स्यादिति भावः । (‘भगवद्दत्तं देहं भगवत्कार्यार्थं जीवो धृत्वा तिष्ठती’ ति पुरञ्जनोपाख्यानाज्ज्ञेयम् ।)

आ प्रकारे पोताना स्वरूपनो धर्म अने भगवद्-धर्मनुं स्मरण करवीने अने जे के पोताना निजसेवकोनुं रक्षण करवा माटे प्रभु अन्यथा नहीं करे अथी पोताना भावात्मक समर्पणनुं अनुसंधान करवा माटे पोताना अपमानथी उत्पन्न थयेल कलेशने मूकीने भगवान अेमनी ईच्छाथी जेवी आज्ञा करे तेवुं ज करवुं जेईअे-आ कहेवा माटे आचार्यचरण आज्ञैव वगेरे शब्दोथी कही रह्या छे. सतत अर्थात् निरंतर प्रभुनी आज्ञानुसार ज कार्य करवुं जेईअे, अन्यथा अर्थात् जे आपुं नहीं करीअे तो आपणा स्वाभी-प्रभुथी द्रोह करवुं थई जशे. भगवाने अेमनी सेवा अने अेमना कार्यो करवा माटे ज आपणने आ देह आप्यो छे. तेथी अेमनी आज्ञानुं पालन न करवुं आपणा माटे बाधक ज थशे आ भाव छे. आ वात श्रीमद्-भागवतना पुरंजनोपाख्याननी अंतर्गत आवेल “समस्त ज्वोअे भगवान द्वारा आपेल देहने भगवत्कार्य करवा माटे धारण करीने राभ्युं छे.” आ वाक्य द्वारा जेणी लेवी जेईअे.

इस प्रकार अपने स्वरूप का धर्म एवं भगवद्-धर्म का स्मरण करा कर और चूँकि अपने निज सेवक का रक्षण करने के लिए प्रभु अन्यथा नहीं करेंगे अतः अपने भावात्मक समर्पण का अनुसंधान करने के लिए अपने अपमान से उत्पन्न हुए क्लेश को छोड़कर भगवान उनकी इच्छा से

जैसी आज्ञा करें, वैसा ही करना चाहिए-यह कहने के लिए आचार्यचरण आज्ञैव इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। सतत अर्थात् निरंतर प्रभु की आज्ञानुसार ही कार्य करना चाहिए अन्यथा यदि ऐसा नहीं करेंगे तो अपने स्वामी-प्रभु से द्रोह करना हो जाएगा। भगवान ने अपनी सेवा और अपने कार्य करने के लिए ही हमें यह देह प्रदान की है अतः उनकी आज्ञा का पालन न करना हमारे लिए बाधक ही होगा, यह भाव है। यह बात श्रीमद्-भागवत के पुरंजनोपाख्यान के अंतर्गत आए "समस्त जीवों ने भगवान के द्वारा दी गई देह को भगवत्कार्य करने के लिए धारण कर रखा है।" इस वाक्य द्वारा जान लेनी चाहिए।

सिद्धमाहुः । सेवकस्येति ।

सेवकस्य तु धर्मोयं स्वामी स्वस्य करिष्यति ।

सेवकस्यायमेव धर्मो यदाज्ञाकरणम् । तु शब्देनान्यधर्मनिवृत्तिः सूच्यते (एवं पादत्रयेण स्वाज्ञापरिपालनरूपो दासधर्मो भगवत्तोषहेतुरिति, तुना पक्षान्तरनिरासपूर्वकं स मुख्यतयोपसञ्ज-हे ।) एवं सेवकधर्ममुक्त्वा प्रभुधर्मस्वरूपमाहुः । स्वामी प्रभुः स्वस्य इच्छातः करिष्यतीति स्वमनोभिलषितकरणं प्रभुधर्म एव । सेवकधर्मस्तु तदाज्ञाकरणमेवेति तशब्देन ज्ञाप्यते । (संयोगपृथक्त्वेनात्रापि तु शब्दस्यानुषङ्गः । यद्वा, स्वामी भगवान् स्वस्यात्मीयस्य दासस्य करिष्यति, स्वाज्ञापालनाग्रहं विलोक्य दयया तं धर्मं निर्वाहयिष्यतीत्यर्थः । अतस्तदर्थमपि न चिन्तावसर इति भावः ।

तेथी उपर कहेल पातोथी जे सिद्ध थयुं तेने आचार्यचरण सेवकस्य वगेरे शब्दोथी कही रह्या छे. आचार्यचरण कहे छे - सेवकनो धर्म आ ज छे के ते स्वामीनी आज्ञानुं पालन करे. सेवकनो धर्म इक्त स्वामीनी आज्ञानुं पालन करवुं ज छे पीणुं कांई नहीं -आ तु शब्दथी सूचित थाय छे. आ प्रकारे अही आचार्यचरणोअे त्रण वाक्यो द्वारा (अर्थात् "सत्यसंकल्पो विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यति," आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहोऽन्यथा भवेत्, "सेवकस्य तु धर्मोयं स्वामी स्वस्य करिष्यति," आ त्रण वाक्यो द्वारा) आ कहुं. भगवाननी आज्ञापालन करवानो आपणो दासधर्म भगवानने प्रसन्न करवाभां कारणइप छे. अही ज आपत्रीअे 'तु' शब्दनो प्रयोग क्यो छे. जेथी भगवानने प्रसन्न करवाभां पीण पक्षोने छोडीने केवण आ दासधर्मनी मुख्यता ज सिद्ध थाय छे. आ प्रकारे अही सुधी सेवकना धर्मोने कहीने हवे आचार्यचरण प्रभुना धर्मनुं स्वइप कही रह्या छे. आपत्री आज्ञा करे छे के आपणो स्वामी प्रभु जे करशे ते पोतानी ईच्छाथी ज करशे तेथी स्वमनोभिलषित (मनमां जेवी ईच्छा होय तेवुं) दंगथी कार्य करवुं ज प्रभुनो धर्म छे अने सेवकनो धर्म तो तेमनी आज्ञानुं पालन करवुं ज छे. आ 'तु' शब्दथी जणाय छे. जेवी रीते 'तु' शब्द 'सेवकस्य' साथे प्रयुक्त थयो छे, तेवी ज रीते 'स्वामी' पद साथे पण जोडाई रह्यो छे. अर्थात् "सेवकस्य तु धर्मोऽयं" नो अर्थ आ छे के - सेवकनो धर्म तो प्रभु-आज्ञापालन ज छे. आ ज प्रमाणे 'स्वामी' तु स्वस्य करिष्यति" नो अर्थ आ छे के - स्वामी तो जे करशे ते पोतानी ईच्छाथी करशे. अथवा तो अेवो अर्थ करी ल्यो के, भगवान पोताना आत्मीय दासना समस्त कार्यो अवश्य करशे अने तेभां तेमनी आज्ञा पालननो आग्रह जेईने दयापूर्वक तेना समस्त धर्मोनों निर्वाह करशे, आ अर्थ छे. तेथी जेवने पोताना धर्मनिर्वाहनी चिंतानो पण कोई अवसर नथी रही जतो आ भाव छे.

अतः उपर्युक्त बातों से जो सिद्ध हुआ उसे आचार्यचरण सेवकस्य इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

आचार्यचरण कहते हैं कि सेवक का धर्म यही है कि, वह स्वामी की आज्ञा का पालन करे। सेवक का धर्म केवल स्वामी की आज्ञा का पालन ही है और कुछ भी नहीं, यह तु शब्द से सूचित होता है। इस प्रकार यहाँ आचार्यचरणों ने तीन वाक्यों द्वारा (अर्थात् सत्यसंकल्पतो विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यति, आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहोऽन्यथा भवेत्, सेवकस्य तु धर्मोयं स्वामी स्वस्य करिष्यति इन तीन वाक्यों द्वारा) भगवान की आज्ञा का पालन करने का हमारा दासधर्म भगवान को प्रसन्न करने में कारण है, यह कहा। यहीं पर आपत्री ने 'तु' शब्द का भी प्रयोग किया है, जिससे भगवान को प्रसन्न करने में दूसरे पक्षों को छोड़कर केवल इस दासधर्म की ही मुख्यता सिद्ध होती है। इस प्रकार से यहाँ तक सेवक के धर्मों को कहकर अब आचार्यचरण प्रभु के धर्म का स्वरूप कह रहे हैं। आपत्री आज्ञा करते हैं कि अपने स्वामी-प्रभु जो करेंगे; वह उनकी इच्छा से ही करेंगे अतः स्वमनोभिलषित (मन में जैसी इच्छा हो वैसा) दंग से कार्य करना ही प्रभु का धर्म है और सेवक का धर्म तो उनकी आज्ञा का पालन करना ही है, यह 'तु' शब्द से ज्ञात होता है। जैसे 'तु' शब्द 'सेवकस्य' पद के साथ प्रयुक्त हुआ है वैसे ही 'स्वामी' पद के साथ भी जुड़ रहा है। अर्थात् "सेवकस्य तु धर्मोऽयं" का अर्थ यह है कि - सेवक का धर्म तो प्रभु-आज्ञा का पालन करना ही है। इसी प्रकार "स्वामी तु स्वस्य करिष्यति" का अर्थ यह है कि स्वामी तो जो करेंगे वह अपनी खुद की इच्छा से करेंगे। अथवा ऐसा अर्थ कर लें कि, भगवान अपने आत्मीय दास के समस्त कार्य अवश्य करेंगे और उसमें उनकी आज्ञापालन का आग्रह देख कर दयापूर्वक उसके समस्त धर्मों का निर्वाह करेंगे, यह अर्थ है। अतः जीव को अपने धर्मनिर्वाह की चिन्ता का भी कोई अवसर नहीं रह जाता है, यह भाव है।

एवं सार्धेस्त्रिभिराज्ञैव कार्येति सम्यगुपदिश्य,) एवं भगवदाज्ञापकरणसंतुष्टप्रभुसम्पादितेन स्वस्योत्तमत्वेन कदाचिदाज्ञप्तान्यथाकरणेपि स्वस्य तादृक्सेवकत्वमेव भाव्यं, न त्वन्यथा विचारणीयं, पश्चात्तापो वा कर्तव्यो, यतः प्रभुरेव स्वेच्छातस्तथाकारयतीत्याशयेन स्वदृष्टान्तमाहुः । आज्ञति ।

आज्ञा पूर्वं तु जाता गङ्गासागरसङ्गमे ॥ ५ ॥

यापि पश्चान्मधुवने न कृतं तद्द्वयं मया ।

देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः ॥ ६ ॥

या आज्ञा पूर्वं गङ्गासागरसङ्गम गङ्गासागरसमीपे जाता, पश्चाद्या मधुवनपि जाता, तदाज्ञाद्वयं मया न कृतम् । तु शब्दस्त्वाज्ञाद्वयाकरणस्य भगवदिच्छाविषयरूपत्वज्ञापनार्थः ।

आ प्रकारे साऽऽ त्रय श्लोको द्वारा आचार्यचरणोऽभे भलीभाँतिरूपथी आ उपदेश कर्त्तो के आपणे प्रभु आज्ञानुसार ७ कार्य करवुं न्नेर्छे. हवे आचार्यचरण आ विचार करी रह्या छे के भगवद्-आज्ञापालनथी संतुष्ट थयेला प्रभुअे उत्तमता आपी छे अने ते उत्तमताना मदमां न्ने क्यारेक भगवद्-आज्ञा थी विपरित पण थर्छे न्नाय, तो पण आपणे पोताने सेवक ७ मानवुं न्नेर्छे; भीखुं कोर्छे पण विचार न करवो न्नेर्छे. कारणके आ अधुं प्रभु पोतानी र्छेछाथी ७ करावे छे, आ अताववा माटे आचार्यचरण अेभनुं पोतानुं दृष्टांत आज्ञा वगेरे शब्दोथी आपी रह्या छे.

आ श्लोकमां आपश्री कहे छे के-सर्व प्रथम ७ भगवद्-आज्ञा मने गंगासागर समीपे थर्छे अने अेना पछी भील मधुवनमां थर्छे ते अंने आज्ञाओ में न मानी. आ अंने आज्ञाओनुं पालन आचार्यचरणोऽभे न कर्त्तुं अेमां भगवाननी ७ र्छेछा हती आ अताववा माटे आपश्रीअे अर्ही तु शब्दनो प्रयोग कर्त्तो छे.

इस प्रकार साढ़े तीन श्लोकों द्वारा आचार्यचरणों ने भलीभाँतिरूप से यह उपदेश दिया कि, हमें प्रभु-आज्ञा के अनुसार ही कार्य करना चाहिए । अब यदि भगवान की आज्ञा का पालन करने से संतुष्ट हुए प्रभु ने मुझे उत्तमता प्रदान की है और उस उत्तमता के मद से कभी भगवद्-आज्ञा से अन्यथा भी हो जाय, तो भी अपने-आप को सेवक ही मानना चाहिए; अन्यथा कुछ भी विचार या पश्चात्ताप नहीं करना चाहिए क्योंकि यह सभी कुछ प्रभु अपनी इच्छा से ही करवाते हैं-यह बताने के लिए आचार्यचरण अपना खुद का दृष्टांत आज्ञा इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं ।

इस श्लोक में आपश्री कहते हैं कि सर्वप्रथम जो भगवद्-आज्ञा मुझे गंगासागर के समीप में हुई और इसके पश्चात् दूसरी मधुवन में भी हुई, वह दोनों आज्ञाएँ मैंने नहीं मानी । इन दोनों आज्ञाओं का पालन आचार्यचरणों ने नहीं किया इसमें भगवान की ही इच्छा थी - यह बताने के लिए आपश्री ने यहाँ 'तु' शब्द का प्रयोग किया है ।

ननु, आज्ञाद्वयं किं विषयकमित्यपेक्षायामाहुः । देहदेशपरित्याग इति । गङ्गासागरसङ्गमेऽन्यत्र गमनकृतस्वनिकटस्थित्यभावजकोपेन देहपरित्यागविषयिणी । सापि पूर्वोक्तप्रकारेच्छाजनितक्षणवियोगासहिष्णुतया जाता । (एवं मधुवने मथुरायां देशत्यागविषयिणी ।) स्वाचार्यैस्तु स्वीयशिक्षार्थकविप्रयोगतापानुभवार्थं दूर एव स्थितिः क्रियते । भगवता स्वार्थं तथाज्ञापम् । श्रीमदाचार्यैः स्वसौभाग्यज्ञापनाय तदाज्ञाद्वयमपि न कृतम् । तृतीया लोकगोचरा लोकपरित्यागविषयिणी जाता, सा कृतेति भावः ।

हवे आ अंने आज्ञाओ कया विषयमां हती आ आपश्री देहदेशपरित्यागः वगेरे शब्दोथी कही रह्या छे तात्पर्य आ के गंगासागरसंगम पर ७ भगवद्-आज्ञा थर्छे हती ते अेटला माटे थर्छे हती कारणके आचार्यचरण अन्यत्र रही रह्या हता अने प्रभुनी निकट नहोता आपी शकता तेथी कुपित थर्छेने भगवाने तेमने देहपरित्याग करवानी आज्ञा आपी हती. आ आज्ञा पण भगवाने अेटला माटे आपी हती कारणके आचार्यचरण तेमनी निकट नहोता अने तेथी क्षणमात्रनो वियोग पण भगवान माटे असहनीय थर्छे गयो हतो. आ ७ वात मधुवन / मथुरामां थयेल देशत्यागनी आज्ञाना संदर्भमां पण हती. आचार्यचरणोऽभे तो अर्ही पोताना स्वीयजनोने शिक्षारूप विप्रयोगतापनो अनुभव कराववा माटे भगवानथी दूर ७ निवास कर्त्तो छे. भगवाने अेभना पोताना माटे आचार्यचरणोने देहदेशपरित्यागनी आज्ञा आपी हती परंतु आचार्यचरणोऽभे पोताने अडभागी अताववा माटे (अडभागी आ अर्धमां के भुद् भगवान तेमने निकट पधारवानी आज्ञा आपी रह्या छे अने आचार्यचरणो भगवान पर अेटलो अधिकार छे के तेओ तेमने पण ना पाडी शके छे.) अेभनी ७ आज्ञाओनुं पालन न कर्त्तुं किन्तु, लोकगोचर ७ तृतीय आज्ञा थर्छे अथवा लोकनो परित्याग करवानी आज्ञा थर्छे ते आज्ञानुं पालन तेमणे कर्त्तुं आ लाव छे.

अब वे दोनों आज्ञाएँ किस विषय में हुई थी, यह आपश्री देहदेशपरित्यागः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। तात्पर्य यह कि गंगासागरसंगम में जो भगवद्-आज्ञा हुई थी, वह इसलिए हुई थी क्योंकि आचार्यचरण अन्यत्र रह रहे थे और प्रभु के निकट नहीं आ पा रहे थे अतः कुपित होकर भगवान ने उन्हें देह-परित्याग करने की आज्ञा की थी। यह आज्ञा भी भगवान ने इसलिए की क्योंकि आचार्यचरण उनके निकट नहीं थे और जिससे क्षणमात्र का वियोग भी उनके लिए असहनीय हो गया था। यही बात मधुवन/मथुरा में हुई देशत्याग की आज्ञा के संदर्भ में भी थी। अपने आचार्यचरणों ने तो यहाँ अपने स्वीयजनों को शिक्षारूप विप्रयोगताप का अनुभव कराने के लिए भगवान से दूर ही निवास किया है। भगवान ने अपने खुद के लिए आचार्यचरणों को देहदेशपरित्याग की आज्ञा दी थी परंतु आचार्यचरणों ने अपने आप को बड़भागी बताने के लिए (बड़भागी इस अर्थ में कि, खुद भगवान उन्हें आज्ञा दे रहे हैं और आचार्यचरणों का भगवान पर इतना अधिकार है कि वे उन्हें भी मना कर सकते हैं) उनकी दोनों आज्ञाओं का पालन नहीं किया। किंतु लोकगोचरा जो तृतीय-आज्ञा हुई अर्थात् लोक का परित्याग करने की हुई, उस आज्ञा का पालन उन्होंने किया यह भाव है।

(.....पाठे, तृतीय आज्ञाविषयः, स चोभयसमुदायरूपः संन्यास इति व्याख्येयम् । तथा च द्वयं न कृतमप्येवं कृतं, तदपि मया तदवतारेण । अतो मन्निदर्शनं पुरस्कृत्य अन्येन तथा न कार्यम्, किन्तु यथा प्रभवाज्ञा तथैव कार्यमितिभावः । यद्वा, न कृतमित्यत्र काकुः । 'दिह' उपचये, 'दिश' अतिसर्जने, देह उपचयः, देशो दानम् । अयमर्थः, भगवता श्रीभागवतार्थप्रकटनाय पूर्वमाज्ञाप्तं, तत्सूक्ष्मटीकाकरणेन कृतम् । ततः सुबोधिनि्यामुपचयो ग्रन्थबाहुल्यात्मा आरब्धस्तदा देहपरित्याग आज्ञप्तः । ततस्तद्विहाय निरोध एव विवृतः ततो मुक्तौ विव्रीयमाणायां देशपरित्याग आज्ञाप्तः । तदा विमोचने स्वाश्रयप्रापणे च विवृते फलं दत्तमेव स्यादिति तदभावाय तादृशमाज्ञाद्वयं मयापि स्वाग्रहत्यागेन कृतञ्चेदन्येन तु सर्वथा कर्तव्यमेवेति भावः ।)

(अर्ही :..... "पाठे" थी लईने "व्याख्येयम्" सुधीनुं वाक्य अधूरुं प्राप्त थाय छे तेथी आ पंक्तिनो अनुवाद नथी क्यो.)

आधी आ प्रकारे आचार्यचरण आज्ञा करे छे के में संन्यास ग्रहण करीने ते जे आज्ञाओनुं पालन न करतां पण करी लीधुं, ते पण में कर्तु अर्थात् भगवानना साक्षात् अवतारे. तेथी भारी देभादेभी बीज कोर अन्य व्यक्तिअे आपुं नही करवुं जेईअे परंतु जेवी प्रभु आज्ञा होय तेवुं न करवुं जेईअे, आ भाव छे. अथवा तो "आज्ञापूर्व.....मया" सुधीनी पंक्तिनो अर्थ काकु-पद्धतिथी करी ल्यो (अर्ही काकु-पद्धतिथी आ लोकनो अर्थ केवी रीते थशे आ जेई लईअे. सौथी पहलेलां सामान्यरूपथी अर्थ करवो होय तो आ प्रकारे कराशे के-"सर्वप्रथम जे आज्ञा मने गंगासागरसंगम पर थई अने पछी मधुवनमां थई, ते जे आ आज्ञाओनुं पालन में न कर्तु" हवे आ न पंक्तिनो अर्थ काकु पद्धतिथी करवो होय तो आ प्रकारे कराशे के-"सर्वप्रथम जे आज्ञा मने गंगासागरसंगम पर थई अने पछी मधुवनमां थई, श ते जे आ आज्ञाओनुं पालन में न कर्तु ? अपितु, त्रीण आज्ञा-अनुसार संन्यासग्रहण करवा थकी पालन करी न लीधुं आ अर्थ छे.) अर्ही आ समजवुं जेईअे के "दिह धातु उपचयना अर्थमां छे जेनाथी देह शब्द अन्यो छे अने दिश धातु अधिकताना अर्थमां छे, जेनाथी देश शब्द अन्यो छे. तेथी देहनो अर्थ थयो 'उपचय' अने देशनो अर्थ थयो 'दान देवुं'. आ प्रकारे हवे देहदेशपरित्याग करवानो अर्थ आवी रीते समझे के भगवाने श्रीभागवतनो अर्थ प्रकट करवा भाटे पूर्वमां आज्ञा आपी जे आज्ञा आपश्रीअे भागवतनी सूक्ष्म टीकानी रचना करीने पूर्ण करी. आना पछी तेमने श्रीसुबोधिनीमां श्रीमद्-भागवतनो उपचय अर्थात् श्रीमद्-भागवतनो अलुलताथी विस्तार करवानुं आरंभ कर्तु, त्यारे भगवाने तेमने देहपरित्याग करवानी आज्ञा आपी अर्थात् "सुबोधिनी द्वारा श्रीभागवतनो लण वधारे विस्तार न करो" आ आज्ञा आपी. तेथी आपश्रीअे विस्तारने भूकीने निरोधलीला अथवा दशमस्कंधनी न व्याख्या करवी आरंभ करी. आना पछी न्यारे आपश्री मुक्तिलीला अर्थात् अेकादशस्कंधनी व्याख्या करी रह्या हता त्यारे भगवाने देशपरित्याग करवानी आज्ञा आपी तेथी आचार्यचरण कहे छे के- जे हुं अेकादशस्कंध (मुक्तिलीला) अने द्वादश स्कंध (आश्रयलीला) नी विवृति करत, तो जेवोने तेनुं इल आपी न देवानो हतो परंतु ते इल हुं समस्त जेवोने न आपुं अेना भाटे भगवाने मने देहदेशपरित्यागनी आज्ञा आपी अने न्यारे में पण ते विवृतिनो आग्रह छोडीने भगवाननी जे आ आज्ञाओनुं पालन करी लीधुं, तो बीजओने तो भगवद्-आज्ञाओनुं पालन करवुं न जेईअे आ भाव छे.

(यहाँ "पाठे" से लेकर "व्याख्येयम्"तक का वाक्य अधूरा प्राप्त होता है अतः इस पंक्ति का अनुवाद नहीं किया गया है) अतः इस प्रकार से आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि, मैंने संन्यास ग्रहण करके उन दोनों आज्ञाओं का पालन न करते हुए भी पालन कर लिया; वह भी मैंने किया अर्थात् भगवान के साक्षात् अवतार ने। अतः मेरी देखादेखी किसी अन्य व्यक्ति को ऐसा नहीं करना चाहिए परंतु जैसी प्रभु-आज्ञा हो वैसा ही करना चाहिए, यह भाव है। अथवा तो "आज्ञा पूर्व मया" तक की पंक्ति का अर्थ काकु-पद्धति से कर लें। यहाँ काकु-

पद्धति से इस श्लोक का अर्थ कैसे बैठेगा यह देख लें। सबसे पहले सामान्यरूप से अर्थ करना हो तो इस प्रकार से अर्थ किया जायेगा कि - सर्वप्रथम जो आज्ञा मुझे गंगासागरसंगम में हुई और फिर मधुवन में हुई, उन दोनों आज्ञाओं का पालन मैंने नहीं किया। अब इसी पंक्ति का अर्थ काकु-पद्धति से करना हो तो इस प्रकार से किया जायेगा कि - सर्वप्रथम जो आज्ञा मुझे गंगासागर संगम में हुई और फिर मधुवन में हुई, क्या उन दोनों आज्ञाओं का पालन मैंने नहीं किया ?? अपितु तीसरी आज्ञा के अनुसार संन्यासग्रहण करने के द्वारा पालन कर ही लिया, यह अर्थ है। यहाँ यह समझना चाहिए कि दिह धातु 'उपचय' के अर्थ में है; जिससे 'देह' शब्द बना है और दिश धातु 'अधिकता' के अर्थ में है, जिससे 'देश' शब्द बना है अतः देह का अर्थ हुआ 'उपचय' एवं देश का अर्थ हुआ 'दान देना'। इस प्रकार अब देहदेशपरित्याग करने का अर्थ ऐसे समझें कि भगवान ने श्रीभागवत का अर्थ प्रकट करने के लिए आचार्यचरणों को पूर्व में आज्ञा दी, जो आपश्री ने भागवत की सूक्ष्मटीका की रचना करके पूर्ण की। इसके पश्चात् उन्होंने सुबोधिनी में श्रीभागवत का उपचय अर्थात् ग्रंथ का बहुलता से विस्तार करना आरंभ किया; तब भगवान ने उन्हें देहपरित्याग करने की आज्ञा दी अर्थात् "सुबोधिनी द्वारा श्रीभागवत का अब और अधिक विस्तार मत करो" यह आज्ञा दी। अतः आपश्री ने उस विस्तार को छोड़कर निरोध अर्थात् दशमस्कंध की ही व्याख्या करनी आरंभ की। इसके पश्चात् जब वह मुक्ति अर्थात् एकादशस्कंध की व्याख्या कर रहे थे तब भगवान ने देशपरित्याग की आज्ञा की। अतः आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि-यदि मैं एकादशस्कंध (मुक्तिलीला) एवं दशमस्कंध (आश्रयलीला) की विवृति करता तो जीवों को उसका फल दे ही देनेवाला था परंतु वह फल मैं समस्त जीवों को न दूँ, इसके लिए भगवान ने मुझे देहदेशपरित्याग की आज्ञा दी और यदि मैंने भी उस विवृति का आग्रह छोड़कर भगवान की उन दोनों आज्ञाओं का पालन कर लिया, तो दूसरों को तो भगवद्-आज्ञा का पालन सर्वथा करना ही चाहिए, यह भाव है।

(एवमाज्ञाया अकरणकरणे उक्त्वा) स्वस्याज्ञाद्वयाकरणजपश्चात्तापाभावायमाहुः। पश्चात्ताप इति।

पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोहं न चान्यथा।

लौकिकप्रभुवत्कृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन ॥ ७ ॥

तत्राज्ञाद्वयाकरणे पश्चात्तापा मया कथं कर्तव्यः ?। यतोहं सेवकोस्मि। तदपि स्वस्य सेवकत्वप्रौढ्यैव कृतम्। न चान्यथा, न केवलं स्वप्रौढ्येति। तथा च ममेदं (शोभते नत्वन्यस्येतिभावः। यद्वा, आज्ञाद्वयाकरणान्ममापि पश्चात्तापश्चेदन्यस्य त्वत्यन्त एव स्यादतस्तथान्येन न कार्यमितिभावः)।

आ प्रकारे आचार्यचरणोऽभे भगवद्-आज्ञानुं पालन केम न कर्तुं आनुं कारण कहीने हवे तेमने भगवाननी भे आज्ञाओनुं पालन न करवाथी ने पश्चात्ताप थयो तेने दूर करवा माटे पश्चात्तापः वगैरे शब्दोथी कही रह्या छे।

आ श्लोकमां आपश्री आज्ञा करे छे के- भे में भगवाननी भे आज्ञाओ न मानी तो भेमां मने पश्चात्ताप केम करवो जेईअे? कारणके हुं तो भगवाननो सेवक छुं अने आवुं में मारा सेवक होवाना भावावेशमां आवीने न कर्तुं छे. अन्यथा नहीं अर्थात् केवल मारा अभिमानना कारणे नहीं. अने आ पण जण्णी लोके आवुं करवुं मने न शोभे छे बीज कोईने नहीं, आ भाव छे. अथवा आवो अर्थ करी ल्यो के आचार्यचरण आज्ञा करे छे के-भगवाननी भे आज्ञाओनुं उल्लंघन करवाथी मने न पश्चात्ताप थई रह्यो छे तो बीजओने तो अत्यंत पश्चात्ताप थशे तेथी मारा सिवाय बीजओने आ प्रकारे भगवद्-आज्ञानुं उल्लंघन न करवुं जेईअे, आ भाव छे.

इस प्रकार आचार्यचरणों ने भगवद्-आज्ञा का पालन क्यों नहीं किया इसका कारण कह कर अब उन्हें भगवान की दो आज्ञाओं का पालन न करने से जो पश्चात्ताप हुआ, उसे दूर करने के लिए पश्चात्तापः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

इस श्लोक में आपश्री आज्ञा कर रहे हैं कि, यदि मैंने भगवान की दो आज्ञाएँ नहीं मानी; तो मुझे पश्चात्ताप क्यों करना चाहिए ? क्योंकि मैं तो भगवान का सेवक हूँ और ऐसा मैंने अपने सेवक होने के भावावेश में आकर ही किया है अन्यथा नहीं अर्थात् केवल अपने अभिमान के कारण नहीं। और यह भी जान लो कि, ऐसा करना केवल मुझे ही शोभा देता है किसी अन्य को नहीं - यह भाव है। अथवा ऐसा अर्थ कर लें कि आचार्यचरण आज्ञा कर रहे हैं कि - भगवान की दो आज्ञाओं का उल्लंघन करने से जब मुझे ही पश्चात्ताप हो रहा है तो अन्यो को तो अत्यंत पश्चात्ताप होगा अतः मेरे अतिरिक्त दूसरों को इस प्रकार भगवद्-आज्ञा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए - यह भाव है।

ननु सेवकत्वे सति स्वप्रौढ्या आज्ञाया अकरणे भगवानप्रसन्नो भवेदि(ति कथं भवतां शोभाकरं, यदि शोभाकरं कथमन्येन न कार्यमि)त्याशङ्क्य भगवतोऽलौकिकत्वेन तदभावमाहुः। लौकिकप्रभुवदिति। लौकिकप्रभुवत् कृष्णः सदानन्दः फलरूपः कथञ्चन केनापि प्रकारेण न द्रष्टव्यः। तथा च, यथा लौकिकप्रभूणां स्वोक्ताकरणे क्रोधो भवति भगवतस्तथा न भवति। यतस्तद्रसानुभवार्थं प्रभुरेव तथा प्रेरयति। अत एव भगवता पार्थं प्रत्युक्तं 'कर्तुं नेच्छसी' त्वारभ्य 'मायये' त्यन्तम्।

लौकिकानामतथाभावात् क्रोधो भवति । (अतो भगवदप्रसन्नताया अभावादस्माकं शोभाकरम् । अन्यस्य तु तादृग्योग्यताया अभावेन भगवदिच्छाज्ञानाभावादनुचितमेवेत्यर्थः) ।

परंतु अर्ही अेक शंका आ थाय छे के अेक सेवक होवाने लीधे भावावेशमां आवीने जे आचार्यचरण भगवद्-आज्ञानुं उल्लंघन करी देता होय तो आनाथी भगवान अप्रसन्न थशे, तेथी आ वात आचार्यचरण भाटे शोभास्पद केवी रीते थई शके ? अने जे शोभास्पद न थती होय तो पछी बीज्जओ आवुं करे अेमां शुं हानि ? जे आवी शंका थती होयातो हवे आचार्यचरण आगणना श्लोकमां लौकिकप्रभुवत् वगेरे शब्दोथी भगवानना स्वरूपने अलौकिक अतावता आ शंकानुं निराकरण करे छे. आपश्री आज्ञा करे छे के सदानंद-फलरूप-कृष्णने अेक लौकिक स्वामीनी दृष्टिअे अ्यारेय न जेवा जेईअे. जेवी रीते कोई लौकिक स्वामी पोताना सेवकने कोई आज्ञा करे अने सेवक अेनुं पालन न करे तो ते क्रोधित थाय छे अेवी रीते भगवाननी आज्ञानुं पालन न करवाथी भगवान सेवक पर क्रोधित नथी थता कारणके भगवद्-रसनो अनुभव कराववा भाटे भगवान न पोताना सेवकने अेवी प्रेरणा आपे छे. अे न कारणे भगवाने अर्जुन प्रति “हे अर्जुन ! मोहवश थईने तुं मारी जे आज्ञानुं पालन करवा नथी मांगतो तेने न तुं तारा स्वभावने वश थईने करशे (भ.गी.१८/६०).” आ वाक्यथी लईने “हे अर्जुन ! ईश्वर समस्त प्राणीओना हृदयमां जेठो छे, ते न देहरूपी अंतरमां जेसीने जधाने पोतानी मायाशक्तिथी घुमावे छे.(भ.गी.१८/६१).” आ वाक्य सुधी कहुं छे. लौकिक स्वामीमां आवुं सामर्थ्य नथी होतुं अने पोताना सेवक प्रत्ये आवो भाव पण नथी होतो तेथी आज्ञानुं उल्लंघन थवाथी तेअो क्रोधित थई जय छे. आना लीधे न अर्ही भगवाननी अप्रसन्नता न होवाने कारणे आचार्यचरणो भाटे तो आ शोभास्पद छे परंतु बीज्जओमां आचार्यचरणो जेवी योग्यता न होवाथी तेभने मूल भगवद्-ईच्छानुं ज्ञान थतुं नथी तेथी तेभना भाटे तो भगवद्-आज्ञानुं उल्लंघन करवुं अनुचित न छे, आ अर्थ छे.

परंतु यहाँ एक शंका यह होती है कि, एक सेवक होने के नाते भाववेश में आकर यदि आचार्यचरण भगवद्-आज्ञा का उल्लंघन कर देते हैं तो इससे भगवान अप्रसन्न होंगे अतः यह बात आचार्यचरणों के लिए शोभास्पद कैसे हो सकती है ? और यदि शोभास्पद ही होती हो, तो फिर अन्यो को ऐसा करने में क्या हानि है ? यदि ऐसी शंका होती हो, तो अब आचार्यचरण आगे के श्लोक में लौकिकप्रभुवत् इत्यादि शब्दों से भगवान के स्वरूप को अलौकिक बताते हुए इस शंका का निराकरण कर रहे हैं । आपश्री आज्ञा करते हैं कि सदानंद-फलरूप-कृष्ण को कभी भी एक लौकिक-स्वामी की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए । जैसे कोई लौकिक-स्वामी अपने सेवक से कोई आज्ञा करे और सेवक उसका पालन न करे तो वह क्रोधित होता है, ऐसे भगवान की आज्ञा का पालन न करने से भगवान सेवक पर क्रोधित नहीं होते क्योंकि भगवद्-रस का अनुभव कराने के लिए भगवान ही अपने सेवक को ऐसी प्रेरणा देते हैं । इसी कारण भगवान ने अर्जुन के प्रति, “हे अर्जुन ! मोहवश होकर तू मेरी जिस आज्ञा का पालन नहीं करना चाहता, उसी को तू अपने स्वभाव के वश होकर करेगा (भ०गी०१८/६०)” इस वाक्य से लेकर, “हे अर्जुन ! ईश्वर समस्त प्राणियों के हृदय में बैठा है । वही देहरूपी यंत्र में बैठकर सभी को अपनी मायाशक्ति से घुमा रहा है (भ०गी०१८/६१)” इस वाक्य तक कहा है । लौकिक-स्वामी में ऐसी सामर्थ्य नहीं होती है एवं अपने सेवक के प्रति ऐसा भाव भी नहीं होता अतः आज्ञा का उल्लंघन होने से वह क्रोधित हो जाते हैं । इसलिए यहाँ भगवान की अप्रसन्नता न होने के कारण आचार्यचरणों के लिए वह शोभास्पद है परंतु अन्यो में आचार्यचरणों जैसी योग्यता न होने से उन्हें मूल भगवद्-ईच्छा का ज्ञान नहीं होता अतः उनके लिए तो भगवद्-आज्ञा का उल्लंघन करना अनुचित ही है, यह अर्थ है ।

(एवमाज्ञाकरणतदकरणव्यवस्थामुक्त्वा तेन यत् सिद्धं तद् वदिष्यन्तो,) भगवति सर्वसमर्पणं जीवधर्मः, पश्चात्तु प्रभुः स्वेच्छया यत्करिष्यति तत्करोतु, त्वयापि तथैव स्वधर्मः कृतोस्तीति नैश्चिन्त्येन स्थीयतामित्याहुः । सर्वमिति ।

सर्व समर्पितं भक्त्या कृतार्थोसि सुखी भव ।

प्रौढापि दुहिता यद्वत्स्नेहान्न प्रेष्यते वरे ॥ ८ ॥

तथा देहे न कर्तव्यं वरस्तुष्यति नान्यथा ।

भक्त्या स्नेहेन सर्वं समर्पितमतः कृतार्थोसि सुखी भव सुखेनैव स्थीयताम् । परिणामे सुखमेवेति सुखी भवेत्युक्तम् । सर्वपदेन लौकिकं रसाधिकरणदेहसम्बन्धिभावरूपमलौकिकञ्चेति ज्ञापितम् । समर्पणे कृते देहेपि सम्बन्धस्य जातत्वादेहेनैव सेवा कर्त्तव्यति लौकिकरसात्मकनिदर्शनपूर्वक (तत्कर्त्तव्यत्वावश्यकत्वमाहुः) । प्रौढापीति ।

आ प्रकारे आचार्यचरणोअे भगवद्-आज्ञानुं पालन कया अर्थमा क्युं अने कया अर्थमां न क्युं वगेरे समस्त व्यवस्थाने कहीने आ जधा विश्लेषणोथी जे कांई सिद्ध थयुं तेने आपश्री आगणना श्लोकोमां कही रह्या छे. आपश्री कहे छे के भगवानने

पोतानुं सर्वं कांश्चिदसमर्पणं करी देवुं श्रुत्वा धर्मं च । हवे श्रुत्वा सर्वसमर्पणं कुर्यात् आद्यं प्रभु पोतानीं दृष्ट्वाथी नृणां करवा दृष्ट्वा ते करे । तमे तो तमारा स्वधर्मनुं पालनं कुर्युं नृणां च तेथी निश्चितताथी रहो- आ वातने आपश्री सर्वम् वगरे शब्दोथी कही रह्या छे । आचार्यचरणं श्रुत्वा आज्ञा करी रह्या छे के तमोश्चे भक्त्या अर्थात् स्नेहपूर्वकं भगवानने सर्वं कांश्चिदसमर्पितं करी दीधुं छे तेथी तमे कृतार्थं छे अने सुभधी रहो । भगवानने सर्वं कांश्चिदसमर्पणं करी देवानुं परिणाम सुभकारी नृणां थशे तेथी आपश्री सुभी रहो अेम कही रह्या छे । सर्वं पदथी आ नृणां च छे के समस्त लौकिककार्यं अने भगवद्-रसथी पूर्णं आ देहथी संबन्धितं अलौकिकं भाव वगरे अंधुं नृणां श्रुत्वा भगवानने समर्पणं करी दीधुं छे आ सूचितं कुर्युं छे । भगवानने लौकिक-अलौकिकं अंधुं नृणां समर्पणं करी देवा थकी देह-नो पणं भगवानथी संबन्धं थर्षं नृणां छे तेथी आ देहथी भगवद्-सेवा करवी नृणां न्नेर्ष्ये । समस्त लौकिकं अने रसात्मकं अलौकिकं कार्योने अतावता आ देह द्वारा भगवद्-सेवा कर्तव्यरूपे आवश्यकं छे, आ अतावता माटे आचार्यचरणं प्रौढापि वगरे शब्दोथी अेक उदाहरणं आपी रह्या छे ।

इस प्रकार से आचार्यचरणों ने भगवद्-आज्ञा का पालन किस अर्थ में किया और किस अर्थ में नहीं किया इत्यादि समस्त व्यवस्था को कहकर इन सभी विश्लेषणों से जो कुछ सिद्ध हुआ, वह आपश्री आगे के श्लोकों में कह रहे हैं । आपश्री कह रहे हैं कि भगवान को अपना सभी कुछ समर्पण कर देना जीव का धर्म है, अब जीव के सर्वसमर्पण करने के पश्चात् प्रभु अपनी इच्छा से जो करना चाहे करें, तुमने भी अपने स्वधर्म का पालन किया ही है अतः निश्चितता से रहो । इसे वे सर्वम् इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं ।

आचार्यचरण जीव को आज्ञा कर रहे हैं कि तुमने भक्त्या अर्थात् स्नेहपूर्वकं भगवान को सभी कुछ समर्पित किया है अतः तुम कृतार्थ हो और सुख से रहो । भगवान को सभी कुछ समर्पित कर देने का परिणाम सुखकारी ही होगा अतः आपश्री 'सुखी रहो' यह कह रहे हैं । सर्व पद के द्वारा आपश्री ने समस्त लौकिककार्य एवं भगवद्-रस से पूर्ण इस देह से संबंधित अलौकिक-भाव इत्यादि सभी कुछ जीव ने भगवान को समर्पित कर दिया है, यह ज्ञापित किया है । भगवान को लौकिक-अलौकिक सभी कुछ समर्पण कर देने से देह का भी भगवान से संबंध हो जाता है अतः इस देह से भगवद्-सेवा करनी ही चाहिए । अतः इस लौकिक देह द्वारा भगवद्-सेवा कर्तव्यरूप से आवश्यक है, यह बताने के लिए आचार्यचरण प्रौढापि इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं ।

प्रौढापि रसयोग्यापि दुहिता स्वस्य स्नेहात्तस्य वरे यद्वन्न प्रेष्यत तथा देहे न कर्तव्यम् । स्वस्य देहस्नेहेन भगवत्सेवायां देहस्याविनियोगा न कर्तव्यः । किन्तु देहेन लौकिकेन भावात्मकेन च भगवद्रसयोग्यसेवैव कर्तव्या । तदकरणं वरः प्रभुरन्यथा न तुष्यति । यथा स वरः स्वस्त्रीं विना न तुष्यति तथा प्रभुरपि न तुष्यति । अत्रापि समर्पणादनन्तरं मुख्यो भावः स एवोच्यते । एतज्ज्ञापनार्थमेव पूर्वं निदर्शने राजपत्नीत्वमुक्तम् । द्वितीयेनापि तथैवोक्तम् ।

आपश्री आज्ञा करे छे के नृणां रीते रसयोग्य होवा छतां पणं पुत्री स्नेह-ना कारणे तेना पति पासे भोडलवामां न आवे तेवी रीते आ देह साथे न करवुं न्नेर्ष्ये । अर्थात् आपणं देहथी स्नेह शब्दता तेनो भगवद्-सेवामां विनियोगं न करावीश्चे अंधुं न करवुं न्नेर्ष्ये किंतु आ लौकिकं अने भावात्मकं देहथी भगवत्सुभनो विचार करवावाणी भगवत्सेवा नृणां करवी न्नेर्ष्ये । नृणां आवुं नही करीश्चे तो वरः अर्थात् प्रभु प्रसन्न नहीं थाय । नृणां रीते उपरना उदाहरणमां कहेल वर पोतानी स्त्री वगर प्रसन्न नहीं थतो तेवी रीते आपणं पणं आ देहने प्रभुसेवामां संलग्नं न करीश्चे तो प्रभु प्रसन्न थता नथी । अही पणं आचार्यचरणं समर्पणं कुर्यात् आद्यं मुष्य भाव भगवत्सेवा नृणां कही रह्या छे । आ नृणां अतावता माटे तेमणं पूर्वमां राजपत्नीनुं उदाहरणं आप्युं अने अीन प्रौढ -पुत्रीना उदाहरणं द्वारा पणं तेमणं आ नृणां वात कही छे ।

आपश्री आज्ञा करते हैं कि, जैसे रसयोग्य होने पर भी पुत्री अपने स्नेह के कारण उसके पति के पास न भेजी जाय, वैसे इस देह के साथ नहीं करना चाहिए अर्थात् अपनी देह से स्नेह रखते हुए उसका भगवत्सेवा में विनियोग न कराएँ, ऐसा नहीं करना चाहिए किंतु इस लौकिक एवं भावात्मक देह से भगवद्-सुख का विचार करने वाली भगवत्सेवा ही करनी चाहिए । यदि ऐसा नहीं करेंगे तो वरः अर्थात् प्रभु प्रसन्न नहीं होंगे । जैसे उपर के उदाहरण में कहा हुआ वर अपनी स्त्री के बिना प्रसन्न नहीं होता, वैसे हम भी इस देह को प्रभुसेवा में संलग्न न करें, तो प्रभु प्रसन्न नहीं होते । यहाँ पर भी आचार्यचरण समर्पण करने के पश्चात् मुख्यभाव भगवत्सेवा ही कह रहे हैं । यही बताने के लिए उन्होंने पूर्व में राजपत्नी का उदाहरण दिया और दूसरे प्रौढ-पुत्री के उदाहरण से भी उन्होंने यही बात कही है ।

(एवं देहस्नेहत्यागपूर्वकं देहनं सेवैव कारणीयेति निर्द्धार्यं पूर्वं भगवता परीक्षाद्यर्थं कृते विलम्बे मम कथं गतिर्भवितीति या चिन्ता कृता, सा ते गुणायैव जाता, न तु दोषाय । न ह्येषानङ्गीकृतौ चिन्ता भवति, किन्त्वङ्गीकृतावेवेत्याश्वासनाय दृष्टान्तमुखेन परिचायकान्तरं वदन्त) एतत्सेवाद्यभावे सर्वं व्यर्थमेवेत्याहुः । लोकवदिति ।

लोकवच्चेत्स्थितिर्मे स्यात्किं स्यादिति विचारय ॥ ९ ॥

अशक्ये हरिरेवास्ति मोहं मा गाः कथञ्चन ॥ १० ॥

चेत्, समर्पणाभावे म स्थितिर्लोकवत् सर्वसाधारण्येन स्यात्तदा किं स्यात्, फलमितिशेषः । इति विचारय । किं स्यात् ? न किमपीत्यर्थः । (तथा च, तथा स्थित्यभाव एव गुणपरिचायक इति भावः) ।

आ प्रकार्थी अर्ही सुधी आचार्यचरणोऽपि आ निर्धारित कर्तुं के आ देह प्रति स्नेहो नो त्याग करीने अनाथी भगवत्सेवा न करवावी नैर्धये. हवे तेओ आगणना श्लोकमां आ पण अतावी रक्षा छे के पूर्वमां ने आ चिंता थर्ध हती के भगवान् ने परीक्षा करवा माटे इलदानमां विलंब करशे तो मारी शी गति थशे? अे चिंता थवी पण गुणरूप न छे, अेने दोषरूप नही समजवी नैर्धये. केभके नेमनो प्रभुअे अंगीकार कर्थो न थी तेमने तो आ चिंता थवानी न थी किंतु अंगीकृतत्वोने न थवानी छे. आ वात पर विश्वास दृढ करवा माटे भगवद्-धर्मनो परिचय अताववावाणा पीन दृष्टांतने कही रक्षा छे. भगवत्सेवा वगर अधुं कांई व्यर्थ न छे, अे तेओ लोकवत् र्थत्यादि शब्दोथी कही रक्षा छे आपश्री आज्ञा करे छे के, ने हुं प्रभुने मारुं सर्वकांई समर्पण न करत तो मारी स्थिति अेक सर्व-साधारण्णवना नेवी थर्ध नत अने त्तारे मारुं शुं थात ? मने शुं इल प्राप्त थात ? जरा अेनो विचार करो. शुं थात ? कंई पण नही आ अर्थ छे. लौकिकगति न थर्ध-आ स्थिति गुणनी परिचायक छे आ भाव छे.

इस प्रकार से यहाँ तक आचार्यचरणों ने यह निर्धारित किया कि इस देह के प्रति स्नेह त्याग कर भगवद्-सेवा ही करवानी चाहिए । अब वे आगे के श्लोक में यह भी बता रहे हैं कि, पूर्व में जो यह चिन्ता हुई थी कि-भगवान यदि परीक्षा करने के लिए फलदान में विलंब करेंगे तो मेरी क्या गति होगी- यह चिन्ता होनी भी गुणरूप ही है, इसे दोषरूप नहीं समझना चाहिए क्योंकि जिनका प्रभु ने अंगीकार किया ही नहीं है; उन्हें तो यह चिन्ता होनी नहीं है किंतु अंगीकृत-जीवों को ही होती है - इस बात पर विश्वास दृढ करने के लिए भगवद्-धर्म का परिचय बताने वाले दूसरे दृष्टांत को कह रहे हैं । भगवद्-सेवा के बिना सभी कुछ व्यर्थ ही है; यह वे लोकवत् इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं ।

आपश्री आज्ञा करते हैं कि, यदि मैं प्रभु को अपना सबकुछ समर्पण नहीं करता तो मेरी स्थिति एक सर्वसाधारण जीव के जैसी हो जाती; तब मेरा क्या होता ? मुझे क्या फल प्राप्त होता ? जरा इसका विचार करो । क्या होता ? कुछ भी नहीं, यह अर्थ है । लौकिकगति न हुई, यही स्थिति गुण की परिचायक है, यह भाव है ।

नन्वेतद्भावस्य सर्वफलरूपत्वमस्तीति सत्यम्, तस्य परं भावस्याशक्यत्वात्तत्प्राप्तिः कथं स्यादिति चिन्ता तु भवतीति चेद्विभेषि तदा तादृशभीते भगवानपि दयालुरेवेत्याहुः । अशक्य इति । अशक्ये सति हरिकारणसर्वदुःखहर्ताऽस्त्येव, शरणमिति शेषः । अतस्तदभावे सर्वं व्यर्थमिति लौकिकेन विचारेण कथञ्चन तत्प्राप्त्यर्थं मोहं मा गाः, मा प्राप्नुहि ।

आ संदर्भमां अेक शंका आ थाय छे के भगवानने सर्व समर्पण करी देवाथी अने भगवत्सेवामां रत रहेवानो भाव भगवद्-प्राप्तिना समस्त इलोने प्राप्त करवावी शके छे परंतु मुश्केली आ छे के सर्व प्रथम तो मनमां आवो भाव उत्पन्न थवो न अशक्य छे तेथी हवे भगवत्प्राप्ति केवी रीते थशे ? आचार्यचरण आज्ञा करी रक्षा छे के आवी चिंताथी ने तमे भयभीत थता हो तो आवी परिस्थितिमां समने के भगवान पण दयाणु न छे. आ वातने समनपतां आपश्री अशक्य वगेरे शब्दोथी कही रक्षा छे. तात्पर्य आ के अशक्य परिस्थितियोंमां अकारण न समस्त दुःखोना हरण करवावाणा आपणा शरणरूप हरि आपणी साथे न छे, तेथी आपणा मनमां अेवुं नही समजवुं के आपणामां आवो उत्कृष्ट भाव न होय तो सर्व कांई व्यर्थ छे. तेथी आवो लौकिक विचार करीने भगवत्प्राप्तिमां अ्यारेय कोई पण प्रकारनो मोह न राभवो.

इस संदर्भ में एक शंका यह होती है कि, इस प्रकार भगवान को सर्वसमर्पण कर देने एवं भगवत्सेवादि में रत रहने का भाव भगवद्-प्राप्ति के समस्त फलों को प्राप्त करा सकता है परंतु कठिनाई यह है कि सर्वप्रथम तो मन में ऐसा भाव उत्पन्न होना ही अशक्य है अतः भगवत्प्राप्ति अब कैसे होगी ? आचार्यचरण आज्ञा कर रहे हैं कि यदि ऐसी चिंता से तुम डर रहे हो तो ऐसी परिस्थिति में समझो कि भगवान भी दयालु ही हैं । इसको आपश्री अशक्य इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं । तात्पर्य यह कि अशक्य परिस्थितियों में अकारण ही समस्त दुःखों का हरण करने वाले हमारी शरणरूप हरि हमारे साथ ही हैं । अतः अपने मन में ऐसा मत समझो कि, यदि ऐसा उत्कृष्ट भाव न हो तो सभी कुछ व्यर्थ है । ऐसा लौकिक विचार करके भगवद्-प्राप्ति में कभी भी किसी प्रकार का मोह मत रखो ।

एवं प्रबोधं निरूप्या(तः परं शङ्कापिशाच्यनुदयादु)पसंहरन्ति । इतीति ।

इति श्रीकृष्णादासस्य वल्लभस्य हितं वचः ।

श्रीब्रजराजानां विवरणम्

चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ ११ ॥

इति श्रीमद्बल्लभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः ।

इतीति समाप्तौ प्रकारे वा । श्रीकृष्णे दास्यं गतस्य बल्लभस्य रसरूपत्वेन प्रियस्य चित्तं (स्मृतिजनकमन्तःकरणं) प्रति हित हितकरं वचोस्तीत्यर्थः । यद्वचः आकर्ण्य, आसमन्तात्तात्पर्यपूर्वकं श्रुत्वा भक्ता भूत्वा, निश्चिन्ततां निश्चिन्तस्य भावमलौकिकत्वं व्रजेत् ।

चित्तप्रबोधवाक्यानि स्वाचार्योक्तानि सर्वदा ।

तिष्ठन्तु हृदये येन प्रसीदति हरिः स्वयम् ॥१॥

इति श्रीमत्प्रभुचरणरेणुधन (श्रीश्यामलात्मजश्रीब्रजराज) कृतम् अन्तःकरणप्रबोधविवरणम् सम्पूर्णम् ।

आ प्रकारे आ प्रबोधनुं निरूपण कर्था षाढ अने उपर कहेल पिशाची शंका निरस्त थया षाढ हुवे आचार्यचरण आ ग्रंथनुं इति वगेरे शब्दोथी उपसंहार करी रह्या छे.

इति शब्दनो अर्थ अही समाप्ति छे अथवा तो “आ प्रकारे” आम प्रकार अर्थमां लई शक्या. अही आ समबधुं नोईये के श्रीकृष्णनुं दास्य प्राप्त करी लेवावाणा वल्लभना अर्थात् रसरूप होवाने कारणे भगवानना प्रिय-वल्लभना आपणा अंतःकरण प्रत्ये आ हितकारी वचन छे, आ अर्थ छे. जे वचनोने भलीभांति अने अने तात्पर्य समजने सांभलवाथी जेव भक्तनी श्रेणीने प्राप्त करी ले छे अने आवो निश्चिंत थयेलो जेव पछी अलौकिक भावोने प्राप्त करी ले छे.

आपणा आचार्यचरणो द्वारा कहेल ‘चित्तप्रबोधक’ वाक्य सर्वदा

भारा हृदयमां रहे, जे वाक्योथी स्वयं हरि प्रसन्न थाय छे. ॥१॥

आ श्रीमत्प्रभुचरणरेणुना धरणी श्रीश्यामल-आत्मज श्रीब्रजराज द्वारा प्रकटित अंतःकरणप्रबोधनुं विवरण संपूर्ण थयुं.

इस प्रकार से इस प्रबोध का निरूपण करने के पश्चात् और उपर कही पिशाची-शंका निरस्त होने के कारण अब आचार्यचरण इस ग्रंथ का इति इत्यादि शब्दों से उपसंहार कर रहे हैं ।

इति शब्द का अर्थ यहाँ समाप्ति ले लें या फिर “इस प्रकार से” यों प्रकार-अर्थ में ले लें । यहाँ यह समझना चाहिए कि श्रीकृष्ण का दास्य प्राप्त कर लेने वाले बल्लभ के अर्थात् रसरूप होने के कारण भगवान के प्रिय-वल्लभ के चित्त अर्थात् अन्तःकरण के प्रति ये हितकारी वचन हैं, यह अर्थ है । जिन वचनों को भलीभांति और उन वचनों का तात्पर्य समझ कर सुनने से जीव भक्त की श्रेणी को प्राप्त कर लेता है एवं ऐसा निश्चिन्त हुआ जीव फिर अलौकिक-भावों को प्राप्त कर लेता है ।

अपने आचार्यचरणों द्वारा कहे गये चित्त-प्रबोधक वाक्य सर्वदा मेरे हृदय में रहें, जिन वाक्यों से स्वयं हरि प्रसन्न होते हैं ॥१॥

यह श्रीमत्प्रभुचरणरेणु के धनी श्रीश्यामल-आत्मज ‘श्रीब्रजराज’ द्वारा किया अन्तःकरणप्रबोध का विवरण संपूर्ण हुआ ।



શ્રીકૃષ્ણાય નમઃ ।
શ્રીગોપીજનવલ્લભાય નમઃ ।
શ્રીમદાચાર્યચરણકમલેભ્યો નમઃ ।
શ્રીવલ્લભાચાર્યચરણવિરચિત

અન્તઃકરણપ્રબોધઃ

શ્રીદશદિગન્તજૈત્રશ્રીપુરુષોત્તમચરણકૃતં વિવરણમ્ ।

જન્તુસ્વભાવદોષોત્થમ'ન્તુચિન્તાકુલાન્ સ્વકાન્ ।

અવન્તઃ શ્રીમદાચાર્યાઃ સન્તુ મત્સ્વાન્તગોચરાઃ ॥૧ ॥

અથ શ્રીમદાચાર્યચરણા ઉપદિષ્ટસેવાયા નિર્દોષત્વાય સિદ્ધાન્તરહસ્યે બ્રહ્મસમ્બન્ધેન સેવાકર્તૃણાં ૨ પૂર્વેષાં દેહજીવયોઃ દોષાણામકિંચિત્કરત્વમગ્રે દોષાસંસર્ગોપાયં ચ ભગવદુક્તં નિરૂપ્ય, સેવાયા આધિદૈવિકીત્વાય નવરત્ને ચિન્તાનિવૃત્ત્યુપાયકથનમુખેનોદ્વેગાખ્યપ્રતિબન્ધકનિવૃત્તિપ્રકારશ્ચ નિરૂપ્ય તથા સેવાકરણે ભગવત્પ્રાકટ્યસ્યાનુભાવપ્રદર્શનસ્ય ચાવશ્યંભાવાત્તસ્મિન્ સત્યપિ યદા પ્રારબ્ધાદિવશાત્પૂર્વદોષોપોદ્વલનં તદા પાત્રસ્ય સ્વલ્પત્વાન્મહત્યાઃ કૃપાયાસ્તસ્મિન્ માને તસ્ય સ્વોત્કર્ષસ્ફૂર્તૌ ભગવદાજ્ઞાભક્ત્યાદાવપરાધે જાતે ભગવત્તોડપ્રસન્નતા ભવેત્તથાપિ ભગવદ્ધર્મરૂપાયાઃ સેવાયા નિત્યં ક્રિયમાણત્વાત્ 'ન હ્યજ્ઞોપક્રમે ધ્વંસો મદ્ધર્મસ્યોદ્ભવાણ્વપિ,' ઇત્યેકાદશે ભગવદ્વાક્યાત્ સેવાયા નાશાભાવેનાપરાધજનિતપશ્ચાત્તાપોત્પત્તૌ ચિન્તાસમ્ભવે ક્રિયમાણકરિષ્યમાણસેવયોરનાધિદૈવિકીત્વં સ્યાદિતિ તન્નિવૃત્ત્યર્થમસ્મિન્ ગ્રન્થે વિચારાત્મકં સાધનમુપદેદું તત્ર વિશ્વાસાય સ્વાખ્યાયિકાં મધ્યે વદિષ્યન્તો 'મનોવશેન્યે હ્યભવંસ્મ દેવા મનસ્તુ નાન્યસ્ય વશં સમેતિ, ધીષ્મો હિ દેવઃ સહસઃ સહીયાન્ યુજ્જાદ્વશે તં સ હિ દેવદેવ' ઇતિ ભિક્ષુગીતાવાક્યાન્મનસ એવ દુષ્ટવૃત્ત્યુત્પાદકતયા તસ્યૈવ સાધનીયત્વં નિશ્ચિત્ય સ્વવાક્યશ્રવણાર્થ સ્વીયાનામન્તઃકરણમેવાભિમુખીકુર્વન્તિ । અન્તઃકરણત્યાદિ ।

જીવસ્વભાવદોષથી ઉત્પન્ન થયેલા અપરાધની ચિંતાથી વ્યાકુળ થતા સ્વકીયજનોની

રક્ષા કરવાવાળા આચાર્યચરણ મારા અંતઃકરણમાં પ્રકટ થાયો ॥ ૧ ॥

આચાર્યચરણોએ તેમના દ્વારા ઉપદિષ્ટ (જેનો ઉપદેશ કરવામાં આવ્યો હોય તેને ઉપદિષ્ટ કહેવાય છે.) ભગવદ્સેવામાં નિર્દોષતા ઉત્પન્ન કરવા માટે 'સિદ્ધાંતરહસ્યગ્રંથ' માં બ્રહ્મસંબંધ કરવાનું બતાવ્યું છે અને બ્રહ્મસંબંધ કરવાથી સેવા કરનારના અર્થાત્ દેહજીવોના સમસ્ત દોષ નિષ્ક્રિય થઈ જાય છે. આના પછી આપશ્રીએ આ જ ગ્રંથમાં આગળ ભગવાન દ્વારા કહેલા દોષોથી દૂર રહેવાના ઉપાય પણ નિરૂપિત કર્યા છે. એ ભગવદ્સેવાને આધિદૈવિકી બનાવવા માટે આપશ્રીએ નવરત્નગ્રંથમાં ચિંતાની નિવૃત્તિના ઉપાય બતાવીને 'ઉદ્વેગ'નામના પ્રતિબંધની નિવૃત્તિનો પ્રકાર પણ નિરૂપિત કર્યો છે. આ બધા પ્રકારો દ્વારા ભગવદ્સેવા કર્યા બાદ ભગવાનના પ્રકટ થવાનો અનુભવ તો અવશ્ય થવો જ જોઈએ પરંતુ પ્રારબ્ધ વગેરે પૂર્વ દોષોને કારણે જીવની પાત્રતા અલ્પ થઈ જાય છે અને તે પોતાના ઉપર થયેલી ભગવાનની મહદ્ (મોટી) કૃપાને નથી માનતો અને ગર્વિત થઈને ભગવદ્-આજ્ઞા ભંગ કરવાનો અપરાધ પણ કરી બેસે છે. આવું થવાથી ભગવાન જીવ પર અવશ્ય અપ્રસન્ન થાય છે પરંતુ ભગવદ્સેવા તો ભગવદ્-ધર્મરૂપ છે અને જો ભગવદ્સેવા નિત્ય થઈ રહી છે તો પછી એકાદશ સ્કંધમાં ભગવાન દ્વારા કહેવાયેલા "હે ઉદ્વેગ ! મારી સેવા કરવી એ જ ભાગવત્ ધર્મ છે અને એક વાર આરંભ કર્યા પછી કોઈ પણ પ્રકારના વિઘ્નથી એમાં તલ ભર પણ અંતર નથી પડતું. (શ્રી.ભા.૧૧/૨૯/૨૦)" આ વાક્ય અનુસાર ભગવત્-સેવા તો ક્યારેય વ્યર્થ નથી જતી પરંતુ તે ભગવત્સેવામાં કરેલા અપરાધને કારણે પશ્ચાત્તાપ થાય છે તેમજ મનમાં ચિંતા ઉત્પન્ન થાય છે, એથી કરેલી ભગવત્સેવા તેમજ કરવામાં આવતી ભગવત્સેવા પણ ત્યારે આધિદૈવિકી નથી રહી જતી. તેથી આ પ્રકારની ચિંતાની નિવૃત્તિ માટે આચાર્યચરણોએ આ ગ્રંથમાં વિચારાત્મક સાધનોનો ઉપદેશ કરીને એ સાધનો પર વિશ્વાસ દઢ કરવા માટે તેમની પોતાની એક કથા પણ કહી છે. ભિક્ષુગીતાના "બધી ઈન્દ્રિયો મનના વશમાં છે. મન કોઈ પણ ઈન્દ્રિયના વશમાં નથી. આ મન બળવાનમાં બળવાન, અત્યંત ભયંકર દેવ છે. જે એને પોતાના વશમાં કરી લે તે ઈન્દ્રિયોનો વિજેતા છે. (શ્રી.ભા. ૧૧/૨૩/૪૮)" આ વાક્યાનુસાર મન જ દુષ્ટ વૃત્તિઓને પેદા કરે છે એટલે મનને જ સાધવું જોઈએ. આ

૧ (મન્તુઃ-અપરાધઃ) ૨ 'પૂર્વેષાં દેહજીવદોષયોઃ' ઇતિ સ્વહસ્તાક્ષરપાઠઃ । પૂર્વેષાં દેહજીવયોર્દોષાણામ્ ઇત્યન્યપ્રતિફલકેષુ પાઠઃ ।

प्रकारे आचार्यचरण निश्चित करीने अमना वाक्य सांभलवा माटे स्वीयजनोना अंतःकरणे सामे राप्तीने अंतःकरणे ईत्यादि शब्दोधी कही रह्या छे.

जन्तु-स्वभावदोष से उत्पन्न हुए अपराध की चिन्ता से व्याकुल होते स्वकीयजनों की रक्षा करनेवाले आचार्यचरण मेरे अन्तःकरण में प्रकट हों ॥१॥

आचार्यचरणों ने उनके द्वारा उपदिष्ट (जिसका उपदेश किया गया है, उसे उपदिष्ट कहते हैं) भगवत्सेवा में निर्दोषता उत्पन्न करने के लिए सिद्धांतरहस्यग्रंथ में ब्रह्मसंबंध करना बताया है और ब्रह्मसंबंध करने से सेवाकर्ता के अर्थात् देहजीवों के समस्त दोष निष्क्रिय हो जाते हैं। इसके पश्चात् आपश्री ने इसी ग्रंथ में आगे भगवान द्वारा कहे गये दोषों से दूर रहने का उपाय भी निरूपित किया है। उसी भगवत्सेवा को आधिदैविकी बनाने के लिए आपश्री ने नवरत्नग्रंथ में चिन्ता की निवृत्ति का उपाय कह कर 'उद्वेग' नामक प्रतिबंध की निवृत्ति का प्रकार भी निरूपित किया है। इतने सब प्रकारों द्वारा भगवत्सेवा करने पर भगवान के प्रकट होने का अनुभव तो अवश्य होना ही चाहिए परंतु प्रारब्ध-आदि पूर्व दोषों के कारण जीव की पात्रता अल्प हो जाती है और वह खुद पर हुई भगवान की महती (बड़ी) कृपा को नहीं मानता और गर्वित होकर भगवद्-आज्ञा भंग करने का अपराध भी कर बैठता है। ऐसा होने पर भगवान जीव पर अवश्य अप्रसन्न होते हैं परंतु भगवत्सेवा तो भगवद्-धर्मरूप है और यदि भगवत्सेवा नित्य हो रही है तो फिर एकादश स्कंध में भगवान द्वारा कहे गये, "हे उद्वेग ! मेरी सेवा करनी ही भागवत-धर्म है, इसे एक बार आरंभ कर देने के पश्चात् फिर किसी भी प्रकार के विघ्न से इसमें रती भर भी अंतर नहीं पड़ता (श्री भा० ११/२९/२०)" इस वाक्यानुसार भगवत्सेवा तो कभी व्यर्थ नहीं जाती परंतु उस भगवत्सेवा में किए गये अपराध के कारण पश्चात्ताप होता है एवं मन में चिन्ता उत्पन्न होती है। अतः की गई भगवत्सेवा एवं की जाने वाली भगवत्सेवा भी तब आधिदैविकी नहीं रह जाती। सो इस प्रकार की चिन्ता की निवृत्ति के लिए आचार्यचरणों ने इस ग्रंथ में विचारात्मक साधनों का उपदेश कर के उन साधनों पर विश्वास दृढ़ करने के लिए उनकी स्वयं की एक कथा भी कही है। भिक्षुगीता के "सभी इंद्रियाँ मन के वश में हैं। मन किसी भी इंद्रिय के वश में नहीं है यह मन बलवान में बलवान, अत्यंत भयंकर देव है। जो इसे अपने वश में कर ले, वही इंद्रियों का विजेता है (श्री०भा० ११/२३/४८)" इस वाक्यानुसार मन ही दुष्ट वृत्तियों को पैदा करता है अतः मन को ही साधना चाहिए-इस प्रकार से आचार्यचरण निश्चित करके उनके वाक्य सुनने के लिए स्वीयजनों के अन्तःकरण को सामने करके अन्तःकरण इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

अन्तःकरण मद्वाक्यं सावधानतया शृणु ।

कृष्णात्परं नास्ति देवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ॥ १ ॥

यद्यप्यन्तःकरणपदं स्वपरान्तःकरणसाधारणं तथाप्युपसंहारे 'भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेति'तिफलकथनेन ग्रन्थकरणस्य तादर्थ्यं निश्चायिते परान्तःकरणबोधन एव तात्पर्यावगत्या स्वीयानां भक्तानामेव यदन्तःकरणं तद्ग्रहणस्येवोचित्यात्तदेव ग्राह्यम् ।

श्लोक के आचार्यचरणो अथ प्रथम श्लोकमां केवल अंतःकरण पद व कहुं छे. अथी अक तो आपश्री अमना पोताना अंतःकरणे संबोधित करी रह्या छे अथवा तो बीजना अंतःकरणे संबोधित करी रह्या छे-आ प्रकारे अत्रे रीते अर्थ करी शक्य छे. तो पशु अमले ग्रंथना उपसंहारमां "मारा वचनोने सांभलीने भक्तोना मनमां निश्चितता आवशे (भक्तो निश्चिततां व्रजेत्)" आ प्रकारे इलश्रुति कही छे. अथी आ सिद्ध थाय छे के आपश्रीअ बीजना अंतःकरणे संबोधित करवा माटे व आ ग्रंथ लभ्यो छे. अथी आ ग्रंथलेखनी पाछण आचार्यचरणोनु तात्पर्य बीजना अंतःकरणे व समलवपुं छे अटले 'अंतःकरण' पद थी आपश्री पोताना भक्तोना, स्वीयजनोना अंतःकरणे व समलवी रह्या छे. आ व अर्थ उचित छे अने आ व अर्थ लेवो न्नेछे.

यद्यपि आचार्यचरणों ने प्रथम श्लोक में केवल 'अन्तःकरण' पद ही कहा है अतः एक तो आपश्री अपने स्वयं के अन्तःकरण को संबोधित कर रहे हैं या फिर दूसरों के अन्तःकरण को संबोधित कर रहे हैं, इस प्रकार दोनों तरह से अर्थ लिया जा सकता है तथापि उन्होंने ग्रंथ के उपसंहार में "मेरे वचनों को सुनने से भक्तों के मन में निश्चितता आएगी (भक्तो निश्चिततां व्रजेत्)", इस प्रकार से फलश्रुति कही है अतः यह सिद्ध होता है कि आपश्री ने दूसरों के अन्तःकरण को संबोधित करने के लिए ही यह ग्रंथ लिखा है। अतः इस ग्रंथलेखन के पीछे आचार्यचरणों का तात्पर्य दूसरों के अन्तःकरण को ही समझाना है, इसलिए अन्तःकरण पद से आपश्री अपने भक्तों के स्वीयजनों के अन्तःकरण को ही समझा रहे हैं, यही अर्थ उचित है और यही अर्थ लेना चाहिए।

श्रीगोकुलनाथास्तु स्वसौभाग्यप्रदर्शनार्थं स्वीयानां भक्तिमार्गप्रदर्शनार्थञ्च श्रीमदाचार्यचरणैः स्वान्तःकरणमेव बोध्यत इत्याहुः । तथैवान्येपि सर्वे । श्रीरघुनाथास्तु स्वान्तःकरणव्यपदेशेनान्येषामेवान्तःकरणं बोध्यत इत्याहुः । ममत्विदमेव रोचते । सौभाग्यप्रदर्शनस्य सुबोधिन्धारम्भस्थेन 'अर्थं तस्य विवेचितुमि'ति श्लोकेनैव कृतत्वात्ततोधिकदर्शनस्य प्रकृतानुपयोगात् ।

भक्तिमार्गप्रचारार्थमाविर्भूतत्वेन भक्तान्तःकरणस्यैव साधनीयत्वादिति ।

श्रीगोकुलनाथजीએ તો પોતાની ટીકામાં આ કહ્યું છે કે આચાર્યચરણ પોતાનું સૌભાગ્ય-પ્રદર્શન કરવા માટે (આચાર્યચરણોનું સૌભાગ્ય એ છે કે સ્વયં પ્રભુ એમને પોતાની પાસે બોલાવી રહ્યા છે) તેમજ સ્વીયજનોને ભક્તિમાર્ગ દેખાડવા માટે પોતાના જ અંતઃકરણને સંબોધિત કરી રહ્યા છે. આ પ્રકારે અન્ય બીજા ટીકાકારોએ પણ આ જ લખ્યું છે. શ્રીરઘુનાથજી તો એમ કહી રહ્યા છે કે આચાર્યચરણ પોતાના અંતઃકરણને સમજાવવાના બહાને બીજાના અંતઃકરણને સમજાવી રહ્યા છે. પરંતુ મને તો મારો જ પક્ષ રૂચિકર લાગે છે કે આચાર્યચરણ બીજાના અંતઃકરણને જ સમજાવી રહ્યા છે, કેમકે જો સૌભાગ્ય-પ્રદર્શનની જ વાત હોત તો આચાર્યચરણોએ પોતાના સૌભાગ્યની વાત તો સુબોધિનીના આરંભમાં જ “વિશ્વના ઉદ્ધાર માટે ભાગવતનો યથાર્થ પ્રકટ કરવા માટે મુજ વૈશ્વાનર વાકપતિ સિવાય બીજું કોઈ પણ સમર્થ નથી. આ વિચાર કરીને ભગવાને વેદવ્યાસની જેમ મને જ માનવદેહથી સંપન્ન કરીને ભાગવતનો ઉત્તમ અર્થ પ્રકટ કરવાની આજ્ઞા આપી છે. એથી એમને જે પ્રકારે પ્રિય લાગે તે રીતે હું ભાગવતના ગૂઢ અર્થને આનંદપૂર્વક પ્રકટ કરી રહ્યો છું. (સુબો.પ્ર.અ./મંગલાચરણ/૫)” આ શ્લોક દ્વારા કહી દીધી છે. એથી હવે અહીં બીજું અધિક સૌભાગ્ય પ્રદર્શન કરવાની આવશ્યકતા નહોતી. આચાર્યચરણ તો ભક્તિમાર્ગના પ્રચાર માટે જ આર્વિભૂત થયા છે. એથી તેઓ ભક્તોના અંતઃકરણને જ સમજાવી રહ્યા છે, એ જાણી લેવું જોઈએ.

શ્રીગોકુલનાથજી ને તો અપની ટીકા મેં યહ કહા હૈ કિ આચાર્યચરણ અપના સૌભાગ્ય-પ્રદર્શન કરને કે લિએ (આચાર્યચરણોં કા સૌભાગ્ય યહ કિ સ્વયં પ્રભુ ઉન્હેં અપને પાસ બુલા રહે હૈં) એવં સ્વીયજનોં કો ભક્તિમાર્ગ દિખાને કે લિએ અપને હી અન્તઃકરણ કો સંબોધિત કર રહે હૈં । ઇસી પ્રકાર અન્ય દૂસરે ટીકાકારોં ને મી યહી લિખા હૈ । શ્રીરઘુનાથજી તો યહ કહ રહે હૈં કિ, આચાર્યચરણ અપને અન્તઃકરણ કો સમજાને કે બહાને દૂસરોં કે અન્તઃકરણ કો સમજા રહે હૈં । પરંતુ મુઝે તો મેરા હી પક્ષ રુચિકર લગતા હૈ કિ આચાર્યચરણ દૂસરોં કે અન્તઃકરણ કો હી સમજા રહે હૈં । ક્યોંકિ યદિ સૌભાગ્ય- પ્રદર્શન કી હી બાત હોતી તો આચાર્યચરણોં ને અપને સૌભાગ્ય કી બાત તો સુબોધિની કે આરંભ મેં હી “વિશ્વ કે ઉદ્ધાર કે લિએ ભાગવત કા યથાર્થ પ્રકટ કરને કે લિએ મુઝ વૈશ્વાનર-વાકપતિ કે અતિરિક્ત અન્ય કોઈ મી સમર્થ નહીં હૈ । યહ વિચાર કરકે ભગવાન ને વેદવ્યાસ કી તરહ મુઝે હી માનવદેહ સે સંપન્ન કરકે ભાગવત કા ઉત્તમ અર્થ પ્રકટ કરને કા મુઝે આજ્ઞા દી હૈ અતઃ ઉન્હેં જિસ પ્રકાર સે પ્રિય લગે વૈસે મેં ભાગવત કે ગૂઢ-અર્થ કો આનંદપૂર્વક પ્રકટ કર રહા હૂં (સુબો/પ્ર૦અ૦/મંગલાચરણ/૫)” શ્લોક કે દ્વારા કર દી હૈ અતઃ અબ યહાં ઓર અધિક સૌભાગ્ય-પ્રદર્શન કરને કી ઉન્હેં આવશ્યકતા નહીં થી । આચાર્યચરણ તો ભક્તિમાર્ગ કે પ્રચાર કે લિએ હી આર્વિભૂત હુએ હૈં અતઃ વે ભક્તોં કે અન્તઃકરણ કો હી સમજા રહે હૈં, યહ જાન લેના ચાહિએ ।

तथाचायमर्थः । हे अन्तःकरण ? इन्द्रियान्तरदुर्जय ? त्वं मद्वाक्य ‘योन्तर्बाहिस्तनुभृतामि’त्येकादशीयवाक्यादा ‘चार्यचैत्यवपुषा’ हुताशनरूपेण स्वगतिं व्यञ्जतो वस्तुतः कृष्णत्वेन चाप्ततमस्य मम वाक्य वक्ष्यमाणं त्वद्धितकरं ग्रन्थरूपं सावधानतया शृण्वाकर्णयति । एवमभिमुखीकृत्य ब्रह्मसम्बन्धकरणपूर्वकसेवया स्वस्य ब्रजभक्तमार्गीयत्वेन भगवदनुभावदर्शित्वादिना च स्वस्मिन्नुत्कर्षस्फूर्त्या भगवदाज्ञादौ ब्रजस्थदृष्टान्तेन प्रमाद्यन्तं प्रति तदभावाय तेभ्योपि भगवत उत्कर्ष पूर्व भावयितुमाहुः । कृष्णादित्यादि । वस्तुतः श्रुत्यादिरूपतया निर्गुणसेवया च लोकवेदोक्तदोषवर्जितं दैवं प्राप्तारासक्रीडानां देवीनां कदम्बकं कृष्णात्परं भिन्नं न । उत्कृष्टं वा न । ‘तस्मान्न भिन्ना एतास्तु’ इति तापनीयश्रुतेः, उत्कर्षस्य निरवधिसदानन्दरूपे भगवत्येव विश्रान्तेश्च ।

આમ બધું મળીને આ પ્રથમ શ્લોક દ્વારા આચાર્યચરણ આ આજ્ઞા કરે છે કે- હે અંતઃકરણ! બીજા બધી ઈન્દ્રિયોની અપેક્ષા અધિક મુશ્કેલીથી જીતી શકવાવાળા! તમે મારા વાક્યોને સાવધાનીથી સાંભળો. આચાર્યચરણ તો એકાદશ સ્કંધમાં “હે ભગવન! આપ સમસ્ત પ્રાણીઓના અંતઃકરણમાં અંતર્યામીરૂપથી તેમજ બહાર આચાર્યરૂપથી સ્થિત થઈને એમના સમસ્ત પાપોને મિટાવી દો છો. (શ્રી.ભા.૧૧/૨૯/૬)” આ વાક્યાનુસાર અહીં અગ્નિરૂપથી પોતાનું સ્વરૂપ પ્રદર્શિત કરી રહ્યા છે અને વાસ્તવમાં તો આપ શ્રીકૃષ્ણ જ છે. એથી આજ્ઞા કરે છે કે મારા શ્રેષ્ઠતમ વાક્યોને જે ગ્રંથરૂપમાં છે તેમ જ તમારા માટે હિતકારી છે, એમને સાવધાનીથી સાંભળો. આ પ્રકારે સાવધાન કરીને પોતાના ભક્તોના અંતઃકરણને સામે રાખીને આચાર્યચરણ કહી રહ્યા છે કે બ્રહ્મસંબંધ લઈને ભગવત્સેવા કરવાથી; અને આપશ્રી તો બ્રજભક્તોના માર્ગના અનુગામી છે એટલે પોતાના ભગવદ્-અનુભવને દેખાડવા થકી પોતાનામાં બડભાગી હોવાની ભાવના જગત થવા પર બ્રજગોપીકાઓના ઉદાહરણનો હવાલો આપતાં (રાસપંચાધ્યાયીના અંતર્ગત ભગવાને ગોપીકાઓને રાત્રે પાછા ઘરે જવાની આજ્ઞા કરી હતી જે ગોપીકાઓએ ન માની. જુઓ શ્રી.ભા.દશમ સ્કંધ, ૨૯મો અધ્યાય) ભગવદ્-આજ્ઞા આદિમાં પ્રમાદ કરવાવાળાઓને પ્રમાદ ન કરવાની સલાહ આપતાં કૃષ્ણાત્ ઈત્યાદિ શબ્દોથી આ બતાવી

रह्या छे के प्रबलक्तोथी પણ अधिक उत्कर्ष स्वयं श्रीकृष्णनो छे. आ वात आपश्रीअे 'कृष्णात्' ईत्यादि शब्दोथी कही छे. वस्तुतः शब्द-नो अर्थ अे छे के वास्तवमां तो प्रबलक्त श्रुतिरूपात्मक अने निर्गुणभावथी भागवाननी सेवा करवावाणा छे तेथी लौकिक, वैदिक दोषोथी रहित छे. (आ ळ प्रबलक्तोना समूहने आचार्यचरण 'दैवं' शब्दथी संबोधित करी रह्या छे.) अेवा दैवं अर्थात् भगवाननी साथे रासक्रीडा करवावाणा प्रबलक्तोना समूह પણ कृष्णथी पर नथी, भिन्न नथी अथवा तो श्रीकृष्णथी उत्कृष्ट नथी. आ कारणथी तापनीयश्रुतिमां 'आ भधा प्रबलक्तो भाराथी भिन्न नथी.' अेम कहेवामां आव्युं छे. सौभाग्य के उत्कर्ष तो निरवधि - सदानंदरूप भगवानमां ळ विद्यमान रहे छे.

सो कुल मिलाकर इस प्रथमश्लोक के द्वारा आचार्यचरण यह आज्ञा कर रहे हैं कि - हे अन्तःकरण ! अन्य दूसरी इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक कठिनाई से जीते जा सकने वाले ! तुम मेरे वाक्यों को सावधानी से सुनो । आचार्यचरण तो एकादशस्कंध के, "हे भगवन् ! आप समस्त प्राणियों के अन्तःकरण में अन्तर्यामीरूप से एवं बाहर आचार्यरूप से स्थित होकर उनके समस्त पाप मिटा देते हैं (श्री०भा० ११/२९/६)" इस वाक्यानुसार यहाँ अग्निरूप से अपना स्वरूप प्रदर्शित कर रहे हैं और वास्तव में तो आप श्रीकृष्ण ही हैं अतः आज्ञा कर रहे हैं कि-मेरे श्रेष्ठतम वाक्यों को जो ग्रंथरूप में हैं एवं तुम्हारे लिए हितकारी हैं, उन्हें सावधानी से सुनो । इस प्रकार से सावधान करके अपने भक्तों के अन्तःकरण को सामने करके आचार्यचरण कह रहे हैं कि ब्रह्मसंबंध लेकर भगवत्सेवा करने के द्वारा; और आपश्री तो ब्रजभक्तों के मार्ग के अनुगामी हैं अतः अपने भगवद्-अनुभाव को दिखाने के द्वारा अपने आप में बड़भागी होने की भावना जाग्रत होने पर ब्रजगोपिकाओं के उदाहरण का हवाला देते हुए (रासपंचाध्यायी के अंतर्गत भगवान ने गोपिकाओं से रात्रि में पुनः पर लौट जाने की आज्ञा की थी जो गोपिकाओं ने नहीं मानी । देखें श्री०भा० दशमस्कंध, उनतीसवाँ अध्याय) भगवद्-आज्ञा आदि में प्रमाद करने वालों को प्रमाद न करने की सलाह देते हुए कृष्णात् इत्यादि शब्दों से यह बता रहे हैं कि, ब्रजभक्तों से भी अधिक उत्कर्ष स्वयं श्रीकृष्ण का है । वस्तुतः शब्द का अर्थ यह है कि, वास्तव में तो ब्रजभक्त श्रुतिरूपात्मक एवं निर्गुणभाव से भगवान की सेवा करने वाले हैं अतः लौकिकवैदिक दोषों से रहित हैं । (इन्हीं ब्रजभक्तों के समूह को आचार्यचरण "दैवं" शब्द से संबोधित कर रहे हैं) ऐसे दैवं अर्थात् भगवान के संग रासक्रीडा करने वाले ब्रजभक्तों का समूह भी श्रीकृष्ण से पर नहीं है, भिन्न नहीं है या श्रीकृष्ण से उत्कृष्ट नहीं है । इसी कारण तापनीयश्रुति में "ये सभी ब्रजभक्त श्रीकृष्ण से भिन्न नहीं है" यह कहा गया है । सौभाग्य या उत्कर्ष तो निरवधि-सदानंदरूप भगवान में ही विद्यमान रहता है ।

अतस्तदीयतया तद्दुष्टान्तेन स्वोत्कर्षे विभाव्य प्रौढ्या भगवदनभिप्रेतं न कार्यम् । तासामप्यागन्तुकदोषोत्पत्तौ ताः प्रत्यपि पञ्चाध्याय्यां "प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयते"तिवाक्येन भगवत्तिरोधानस्योक्तत्वादिति । अत्र भावनार्थकक्रियापदाभावाद्यद्यपि वाक्यस्य साकाङ्क्षत्वं तथाप्यग्रे उपान्त्ये विचारयेति क्रियाया वक्ष्यमाणत्वादेतेष्वान्तरवाक्येष्वपि दूरतराषि सैव योज्या, न तु क्रियान्तरमध्याहार्यम् । "दूरान्वयापेक्षयाऽध्याहारस्य गुरुत्वात्" । तथा चेति विचारयत्यर्थः । एवमग्रे यथायोग्यं बोध्यम् ॥१॥

अेथी भगवद्दीय होवाने कारणे ते गोपीकाओनी ळेम पोते પણ पोतानुं सौभाग्य विचारीने भावातिरेकमां कंई अेवुं न करवुं ळेईअे ळे भगवानने वांछित न होय. ते गोपीकाओमां પણ ळयारे आ प्रकारथी दोष आवी गयो હતો, त्यारे ભગવાન પણ रासपंचाध्यायीना "ळयारे भगवाने ळेयुं के अेमने मळ्या पछी गोपीकाओमां गर्व आवी गयो छे अने तेओ मान करवा लागी छे तो तेओ अेमनो गर्व दूर करवा माटे तेम ळ मान दूर करीने अेमने प्रसन्न करवा अेमनी वयमांथी ळ अंतर्धान थई गया, (श्री.भा.१०/२९/४८)"आ श्लोकने अनुसार तिरोधान थई गया होता.

अहींथां अेक वात आ પણ समळवी ळेईअे के आ श्लोकमां आचार्यचरणोअे केवण अेटलुं ळ कळुं छे के "कृष्णथी मोटा कोई बीळ दोषरहित देव नथी." आ वाक्यनी साथे साथे अेमळे अेम नथी कळुं के "कृष्णथी मोटा कोई बीळ दोषरहित देव नथी आ वातनो तमे विचार करो". आ कारणे पहेली नळरे ळेवाथी आ वाक्य कंई अधूरा ळेवुं लागे छे परंतु तो પણ अहीं आपळा मनथी कोई क्रिया लगावीने वाक्य बनावी लेवुं उचित नथी. केमके आ ळ श्लोकनी आगण नवमा श्लोकमां आचार्यचरणोअे "आनो तमे विचार करो (विचारय)" वाक्य द्वारा भावनार्थक क्रिया आपी ळ छे आथी नवमा श्लोक सुधीना भधा श्लोकने आ ळ क्रिया साथे ळेडी ळेडीने अर्थ करवो ळेईअे (टीकाकार अहीं अेम समळववा मागे छे के आ ग्रंथमां आचार्यचरणोना नव श्लोको सुधीना भधा वाक्यो अेक-बीळनी साथे संकणायेला छे अने अे ळ कारणे आपश्रीअे अेनी वयमां कयांय कोई પણ भावनार्थक क्रिया न आपीने सीधा नवमा श्लोकमां "आनो तमे विचार करो (विचारय)" आ प्रमाळे भावनार्थक क्रिया आपी छे. अेथी टीकाकार कही रह्या छे के ळे आपळे आचार्यचरणोनी आ योळनाने न समळअे अने आ श्लोकोमां आवी क्रिया न पामीने आपळा मनथी ळ कोई क्रिया लगावीने अर्थ करवानुं शळ करीअे तो आपळे आचार्यचरणोना ळे अलिप्राय छे अेवो अर्थ नहीं करी शकीअे, अे समळ लेवुं ळेईअे.

એથી આરંભના આઠ શ્લોકોને નવમા શ્લોકમાં કહેલા “આનો તમે વિચાર કરો (ઈતિ વિચારય)” આ ક્રિયાની સાથે મેળવીને અર્થ કરવો જોઈએ, આ ટીકાકારનો આશય છે.) ભલે આ શ્લોકોને નવમા શ્લોક સુધી જઈને જોડવા પડે. આવી રીતે જ આ પંક્તિઓનો અર્થ સરળતાથી થઈ શકે છે, આપણા મનથી કોઈ ક્રિયા લગાડીને અર્થ કરવામાં મુશ્કેલી થશે. એથી નવમા શ્લોક સુધીના બધા શ્લોકોની આગળ “આનો તમે વિચાર કરો” આ વાક્ય જોડીને અર્થ કરવો જોઈએ.

अतः भगवदीय होने के नाते उन गोपिकाओं की भाँति खुद भी अपना सौभाग्य विचारकर भावातिरेक में कुछ ऐसा नहीं करना चाहिए जो भगवान को अभिप्रेत नहीं। उन गोपिकाओं में भी जब इस प्रकार से दोष आ गया था, तब भगवान भी रासपञ्चाध्यायी के “जब भगवान ने देखा कि उनसे मिलने के पश्चात् गोपिकाओं में गर्व आ गया है और वे मान करने लगी हैं तो वे उनका गर्व दूर करने के लिए एवं मान दूर करके उन्हें प्रसन्न करने के लिए उनके बीच में ही अन्तर्धान हो गये (श्री०भी० १०/२९/४८)” इस श्लोक के अनुसार तिरोधान हो गये थे।

यहाँ एक बात यह भी समझनी चाहिए कि इस श्लोक में आचार्यचरणों ने केवल इतना ही कहा है कि “कृष्ण से बड़ा कोई दूसरा दोषरहित देव नहीं है” - इस वाक्य के साथ-साथ उन्होंने यह नहीं कहा है कि “कृष्ण से बड़ा कोई दूसरा दोषरहित देव नहीं है इस बात का तुम विचार करो” - इस कारण एकबारगी देखने से यह वाक्य कुछ अधूरा सा लगता है परंतु फिर भी यहाँ अपने मन से कुछ क्रिया लगा कर वाक्य बना लेना उचित नहीं है। क्योंकि इसी श्लोक के आगे नौवें श्लोक में आचार्यचरणों ने- “इसका तुम विचार करो (विचारय)” वाक्य द्वारा भावनार्थक क्रिया दी ही है अतः नौवें श्लोक तक के सारे श्लोकों को इसी क्रिया के संग जोड़-जोड़ कर अर्थ करना चाहिए। (टीकाकार यहाँ यह समझाना चाह रहे हैं कि इस ग्रंथ में आचार्यचरणों के नौ श्लोकों तक के सारे वाक्य आपस में एक दूसरे से जुड़े हुए श्रृंखलाबद्ध हैं और इसी कारण आपश्री ने इनके बीच में कहीं कोई भी भावनार्थक क्रिया न देकर सीधे नौवें श्लोक में “इसका तुम विचार करो (विचारय)” इस प्रकार से भावनार्थक क्रिया दी है। अतः टीकाकार कह रहे हैं कि यदि हमने आचार्यचरणों की इस योजना को न समझा और इन श्लोकों में ऐसी क्रिया न पाकर अपने मन से ही कोई क्रिया लगा कर अर्थ करना शुरू किया तो हम वैसा अर्थ नहीं कर पायेंगे जैसा अर्थ आचार्यचरणों को अभिप्रेत है, यह समझ लेना चाहिए। अतः आरंभ के आठ श्लोकों को नौवें श्लोक में कहे “इसका तुम विचार करो (इति विचारय)” इस क्रिया के संग मिला कर अर्थ करना चाहिए, यह टीकाकार का आशय है।) भले ही इन श्लोकों को नौवें श्लोक तक जा जाकर जोड़ना पड़े, इसी पद्धति से इन पंक्तियों का अर्थ सरलता से किया जा सकता है, अपने मन से क्रिया लगाकर अर्थ करने में कठिनाई होगी। अतः नौवें श्लोक तक सारे श्लोकों के आगे “इसका तुम विचार करो” यह वाक्य जोड़ कर अर्थ करना चाहिए ॥१॥

एवं प्रौढिहेतुं निवार्यैतस्य जीवस्य पुनस्तथात्वाभावाय दैन्यसिद्ध्यर्थं स्वभावतो निकर्षं बोधयितुं दृष्टान्तमाहुः ।
चाण्डालीत्यादि ।

चाण्डाली चेद्राजपत्नी जाता राज्ञा च मानिता ।

कदाचिदपमानेपि मूलतः का क्षतिर्भवेत् ॥ २ ॥

प्रारब्धवशादतिदुष्टकुलोत्पन्नापि, केनचिद् गुणेन कथञ्चिद्राजपत्नी, राजा पतिर्यस्यास्तादृशी, राज्ञः पत्नीव पत्नी, पतनात् पत्नी, राज्ञो भोग्या सती राज्ञा मानिता च जाता । तस्याः कदाचित् कालविशेषे अपमाने; अर्थाद् राज्ञा कृते वाशब्दादनपमानेपि मूलता अपमानहेतुभूताच्चाण्डालीत्वादनपमानहेतुभूताद्राजपत्नीत्वाच्च का क्षतिः का हानिर्भवेत्? न कापीति विचारयेत्यर्थः ।

આ પ્રકારથી આચાર્યચરણ પ્રૌઢિભાવ (અર્થાત્ ભાવાતિરેક અર્થાત્ ભાવાવેશમાં આવીને અધિકારથી અધિક કરવામાં આવે એને ‘પ્રૌઢિભાવ’ કહેવામાં આવે છે. જેવી રીતે અહીં આચાર્યચરણોએ ભગવાનથી પોતાની અધિક નિકટતા હોવાના કારણે એમની બે આજ્ઞાઓનું ઉદ્ધંધન કર્યું.) નું નિવારણ કરીને હવે ભવિષ્યમાં કોઈ જીવ એવું પ્રૌઢિભાવ ન કરી બેસે આ માટે આપશ્રી ચાંડાલી ના દૃષ્ટાંત દ્વારા દીનતા શીખડાવી રહ્યા છે અને આ બતાવી રહ્યા છે કે જીવ તો સ્વભાવથી જ અધમ છે.

આ ઉદાહરણમાં આચાર્યચરણ આ બતાવી રહ્યા છે કે પ્રારબ્ધવશ અતિ દુષ્ટકુલમાં જન્મ લેવા છતાં પણ કોઈ સ્ત્રી પોતાના કોઈ ગુણથી કોઈ રાજાની પત્ની બની ગઈ અથવા તો એવી સ્ત્રી બની ગઈ કે જેનો પતિ રાજા હોય, ઠીક રાજાની રાણીની જેમ. જે પોતાની જાતને સર્મપિત કરી દે એને પત્ની કહે છે. તેથી રાજા દ્વારા ભોગવાઈ જવાના કારણે રાજા દ્વારા સન્માનિત થઈ ગઈ. હવે ધારો કે કોઈ સમય રાજા એનું અપમાન પણ કરે તો એ ચાંડાલી સ્ત્રીને શું નુકસાન થયું? ક્યાંક ક્યાંક ‘કદાચિદપમાનેપિ’ શબ્દની જગ્યાએ ‘કદાચિદપમાને વા’ પાઠભેદ મળી આવે છે. તો આ પ્રકારે શબ્દ લેવાથી અર્થ આ બનશે કે રાજા એ ચાંડાલી સ્ત્રીનું અપમાન કરે કે ન પણ કરે તો મૂલતઃ એને ક્યાં ફરક પડવાનો છે? અર્થાત્ રાજા દ્વારા અપમાન થાય તો પણ ચાંડાલ કુળમાં ઉત્પન્ન થવાના કારણે તે તો પહેલેથી જ અપમાનિત હતી, હવે એનું હજી વધારે શું અપમાન થવાનું હતું? આ પ્રમાણે અપમાન હોવા છતાં પણ એનું

राजपत्नीनुं पद तो भोवावानुं नथी अथी अने शुं गुभाववानुं थयुं ? कांई नही, आ विचार करो.

इस प्रकार से आचार्यचरण प्रौढ़िभाव (अर्थात् भावातिरेक अर्थात् भावावेश में आकर अधिकार से अधिक कर जाने को प्रौढ़िभाव कहा जाता है। जैसे यहाँ आचार्यचरणों ने भगवान से अपनी अधिक निकटता होने के कारण उनकी दो आज्ञाओं का उल्लंघन कर दिया) का निवारण करके अब भविष्य में कोई जीव ऐसा प्रौढ़िभाव न कर बैठे इसके लिए आपश्री चाण्डाली के दृष्टान्त द्वारा उसे दीनता सिखा रहे हैं एवं यह बता रहे हैं कि जीव तो स्वभाव से ही अधम है।

इस उदाहरण में आचार्यचरण यह बता रहे हैं कि, प्रारब्धवश अति दुष्टकुल में जन्म लेने पर भी कोई स्त्री अपने किसी गुण के कारण किसी राजा की पत्नी बन गई अर्थात् ऐसी स्त्री बन गई जिसका पति राजा हो, ठीक राजा की रानी की भाँति। जो अपने आप को समर्पित कर दे, उसे पत्नी कहते हैं सो राजा के द्वारा भोग ली जाने के कारण वह राजा के द्वारा सम्मानित हो गई। अब मानो कि किसी समय राजा उसका अपमान भी कर दे तो उस चाण्डाली स्त्री की क्या हानि हुई ? कहीं-कहीं "कदाचिदपमानेपि" शब्द की जगह "कदाचिदपमाने वा" यों पाठभेद मिलता है, तो इस प्रकार से शब्द लेने पर अर्थ यह बनेगा कि राजा उस चाण्डाली स्त्री का अपमान करे या न भी करे, तो मूलतः उसे क्या अंतर पड़ने वाला है? अर्थात् राजा द्वारा अपमान कर भी दिए जाने पर चाण्डालकुल में उत्पन्न होने के कारण वह तो पहले से ही अपमानित थी, अब उसका और अधिक क्या अपमान होना था एवं अपमान होने पर भी उसका राजपत्नी का पद तो खोने वाला नहीं है अतः उसकी क्या क्षति हुई ? कुछ भी नहीं, यह विचार करो।

एतस्य वाक्यस्याऽऽचार्यविषयत्वं चैरङ्गीकृतं; तत्पक्षे तु

* 'मृगयुरिव कपीन्द्र'मित्यादौ क्लेशवशाद्यथा भक्तैर्भगवति दोष आरोपितस्तथाऽऽचार्यैः स्वस्मिन्निति बोध्यम् ॥२॥

अने जे लोकोअे आ अर्थ कथीं हतो के आचार्यचरण बीजना अंतःकरणे संबोधित नथी करी रह्या परंतु पोताना जे अंतःकरणे संबोधित करी रह्या छे, अे पक्षमां अेम समञ्ज लेवुं जेअेअे के जे प्रकारे श्रीमद्-भागवतना "अरे मधुप! जयारे ते राम अन्या हता तयारे तेमणे वालिने छल करीने मार्यो हतो. बियारी शूर्पणखा तो कामवश अेमनी पास आवी हती परंतु अेमणे अेना नाक-कान कापी नाभ्या. राजा बलिअे तो अेमनी पूजा करी हती परंतु अेमणे अेने पाताणमां नाभी दीधो. अरे अमने तो श्रीकृष्णथी शुं कोई पण काणी वस्तुथी कोई प्रयोजन नथी. (श्री. भा. १०/४७/१७)" आ वाक्यानुसार गोपीकाओअे दुःखी थईने इक्त कहेवा आतर भगवान पर दोष लगाव्यो हतो अेवी रीते अही आचार्यचरण पोतानी उपर दोषारोपण करी रह्या छे.

और, जिन लोगों ने यह अर्थ किया था कि आचार्यचरण दूसरों के अन्तःकरण को संबोधित नहीं कर रहे हैं परंतु अपने ही अन्तःकरण को संबोधित कर रहे हैं, उस पक्ष में यह समझ लेना चाहिए कि जिस प्रकार श्रीमद्-भागवत के, "अरे मधुप। जब वे राम बने थे तब उन्होंने बालि को छलपूर्वक मार दिया था ? बेचारी शूर्पणखा तो कामवश उनके पास आई थी परंतु इन्होंने उसके नाक-कान काट दिए। राजा बलि ने तो इनकी पूजा की परंतु इन्होंने उसे पाताल में डाल दिया। अरे हमें श्रीकृष्ण से तो क्या किसी भी काली वस्तु से कोई सरोकार नहीं है (श्री०भा०१०/४७/१७)" इस वाक्यानुसार गोपिकाओं ने दुःखी होकर कहने मात्र के लिए भगवान पर दोष लगाए थे, वैसे यहाँ आचार्यचरण अपने आप पर दोषारोपण कर रहे हैं ॥२॥

एवं दृष्टान्तमुक्त्वा दाष्टान्तिके तत्साम्यं वदन्तस्तादृग्विचारफलमाहुः । समर्पणादित्यादि ।

समर्पणादहं पूर्वमुत्तमः किं सदा स्थितः ।

का ममाधमता भाव्या पश्चात्तापो यतो भवेत् ॥ ३ ॥

समर्पणाद् भजनार्थकसंस्काररूपात् स्वसर्वसहितात्मनिवेदनाद्राजपरिग्रहस्थानीयात् पूर्वमहं प्राकृतः, चाण्डालीवत्सहजागन्तुकदोषदुष्टः, किं सदा सर्वकालमभिव्याप्य; उत्तम उत्कृष्टः स्थितः ? । किं शब्दः काकुं स्फोरयति । अपि तु न स्थितः । किन्तु; समर्पणादेवोत्कृष्टो राजपत्नीत्वाच्चाण्डालीवदुत्कर्षवान् जातः ।

आ प्रकारे आचार्यचरण यांडालीनुं दृष्टान्त आधीने जेवने अेना जेवुं अतावी रह्या छे अने अेनो विचार करीने समर्पणात् अित्यादि शब्दोथी कही रह्या छे.

समर्पणात् वगेरे शब्दनो अर्थ छे - भगवद्भजन करवा माटे ब्रह्मसंबंधरूपी संस्कार होवा पहेलां अथवा सर्वस्व सहित आत्मनिवेदन करवानी पहेला आचार्यचरण आज्ञा करे छे के, हुं प्राकृत जे हतो, यांडालीनी जेम दोषदुष्ट जे हतो. शुं पहेलां सदा उत्तम के उत्कृष्ट हतो ? नहीतो. अही आचार्यचरणोअे किं शब्दनो प्रयोग कथीं छे जे काकु पद्धतिने अतावी रह्यो छे.

(એક વિશેષ પ્રકારથી બોલવાની પદ્ધતિને કાકુ પદ્ધતિ કહેવામાં આવે છે.) આપશ્રી આજ્ઞા કરે છે કે..... પરંતુ ભગવાનને આત્મસમર્પણ કર્યા બાદ જ ઉત્કૃષ્ટ થયો છું. જેવી રીતે તે ચાંડાલી રાજાની પત્ની બની જવાના કારણે ઉત્કૃષ્ટ થઈ ગઈ હતી.

इस प्रकार से आचार्यचरण चाण्डाली का दृष्टांत देकर जीव को उसके समान बता रहे हैं एवं उसका विचार करके समर्पणात् इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं ।

समर्पणात् इत्यादि शब्दों का अर्थ है- भगवद्-भजन करने के लिए ब्रह्मसंबंधरूपी संस्कार होने से पहले अथवा सर्वस्वसहित आत्मनिवेदन करने से पहले आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि मैं प्राकृत ही था, चाण्डाली की भाँति दोषदुष्ट ही था । क्या पहले सदा उत्तम या उत्कृष्ट था ? नहीं था । यहाँ आचार्यचरणों ने 'किं' शब्द का प्रयोग किया है जो काकु-पद्धति को बता रहा है । (एक विशेष प्रकार से बोलने की पद्धति को काकु-पद्धति कहा जाता है ।) आपश्री आज्ञा करते हैं कि किंतु भगवान को आत्मसमर्पण कर देने के पश्चात् ही उत्कृष्ट हुआ हूँ जैसे वह चाण्डाली राजा की पत्नी बन जाने के कारण उत्कृष्ट हो गई थी ।

अतः स्वपूर्वस्थितिविचारे राजकृतापमानतुल्यभगवदप्रसन्नतायां जातायां मम चाण्डालीवदुष्टस्याधमता निकृष्टता का भाव्या ! । कतमा भवत्री ! । यता यथा कृत्वा; पश्चात्तापस्तज्जनितखेदविशेषो मे भवेत् ! । नहि प्राकृतरूपा; तस्याः सहजत्वात् । नाप्यभगवदीयरूपा; भगवता अत्यक्तत्वात् । अङ्गीकारात्मकस्यापि भगवद्धर्मस्य नित्यत्वात्; संसारावेशरूपस्य भगवत्यागकार्यस्याभावेनात्यागनिश्चयश्च; तेनैवाग्निमात्यागानुमितेश्च । अतो जातायामप्यप्रसन्नतायां पूर्वदशात् उत्तमैव दशास्ति; नत्वधमेति पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं विचारय । तथा चैवं विचारे भगवत्प्रसादसाधनं दैन्यमप्युदबुद्धं भविष्यतीत्यप्रसन्नतापि निवत्स्यत इत्यर्थः ॥ ३ ॥

तेથી જો હું પોતાની પહેલાંની સ્થિતિનો વિચાર કરું તો જેવી રીતે રાજાએ ચાંડાલીનું અપમાન કર્યું હતું, એમ જો ભગવાન મારા પર અપ્રસન્ન થાય તો મારી શું હાનિ થઈ ? જે પ્રકારે ચાંડાલીનું અપમાન થયા પછી એની બીજી વધારે અધમતા નહોતી થવાની તેવી રીતે મુજ દુષ્ટની બીજી નિકૃષ્ટતા શું થવાની છે ? જેનાથી મને કોઈ વિશેષ ખેદ, પશ્ચાતાપ થાય ?

આપશ્રી આ વિચાર કરી રહ્યા છે કે, ભગવદ્-આજ્ઞાનું પાલન ન કરવાથી જો પ્રભુ મારી ઉપર અપ્રસન્ન થયા છે, તો મારી આ દશા કોઈ પ્રાકૃતરૂપ-દોષ તો છે નહીં પરંતુ પ્રભુની બંને આજ્ઞાઓ માંથી કંઈ આજ્ઞાનું પાલન કરવું-આનો વિચાર કરવામાં સહજરૂપથી જ આ દશા ઉત્પન્ન થઈ ગઈ છે. આપશ્રી આગળ આ પણ વિચાર કરી રહ્યા છે કે, આ અસમંજસતાની પરિસ્થિતિ અભગવદીય પણ નથી કારણકે આ પરિસ્થિતિમાં પણ ભગવાને મારો ત્યાગ કર્યો નથી. કારણકે ભગવાન દ્વારા અંગીકાર કરવાનો ધર્મ તો નિત્ય છે, ભગવાન જેનો ત્યાગ કરી દે એ તો સંસારમાં ભટકાઈ જાય છે પરંતુ મારી સાથે એવું થયું નથી તેથી ભગવાને મારો ત્યાગ કર્યો નથી, આ નિશ્ચિત થાય છે; આનાથી આ પણ નિશ્ચિત થાય છે કે તેઓ આગળ પણ મારો ત્યાગ નહીં કરે.

એથી આચાર્યચરણ આજ્ઞા કરે છે કે ભલે ભગવાન અપ્રસન્ન થઈ જાય પરંતુ એમનું અપ્રસન્ન થઈ જવું પણ આત્મનિવેદનથી પહેલાંની દશાથી તો ઉત્તમ દશા જ છે. કોઈ અધમદશા તો છે નહીં કે પશ્ચાતાપ થાય, આ વિચાર કરવો જોઈએ. જો આ પ્રકારે વિચાર કરીશું તો ભગવાનને પ્રસન્ન કરવાનું સાધન દીનતા પણ આવી જશે અને ત્યારે ભગવાનની અપ્રસન્નતા પણ દૂર થઈ જશે, આ અર્થ છે

अतः यदि मैं अपनी पहले की स्थिति का विचार करूँ तो जैसे उस राजा ने चाण्डाली का अपमान कर दिया था, वैसे यदि भगवान मुझ पर अप्रसन्न हो गये तो मेरी क्या क्षति हुई ? जिस प्रकार चाण्डाली का अपमान होते के पश्चात् उसकी और अधिक अधमता नहीं होनी थी, वैसे मुझ दुष्ट की और निकृष्टता क्या होनी है ? जिससे मुझे कोई विशेष खेद या पश्चात्ताप हो ?

आपश्री यह विचार कर रहे हैं कि, भगवद्-आज्ञा का पालन न करने से जो प्रभु मुझ पर अप्रसन्न हुए हैं, मेरी यह दशा कोई प्राकृतरूप-दोष तो है नहीं अपितु प्रभु की दोनों आज्ञाओं में से कौन सी आज्ञा का पालन करना - इसका विचार करने में सहजरूप से ही यह दशा उत्पन्न हो गई है । आपश्री आगे यह भी विचार कर रहे हैं कि, यह असमंजसता की परिस्थिति अभगवदीय भी नहीं है क्योंकि इस परिस्थिति में भी भगवान ने मेरा त્યાग नहीं किया है । क्योंकि भगवान द्वारा अंगीकार करने का धर्म तो नित्य है, भगवान जिसका त્યાग कर दें वह तो संसार में भटक जाता है परंतु मेरे साथ ऐसा नहीं हुआ है अतः भगवान ने मेरा त્યાग नहीं किया है, यह निश्चित होता है ; इसी से यह भी निश्चित होता है कि, वे आगे भी मेरा त્યાग नहीं करेंगे ।

अतः आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि, भले ही भगवान अप्रसन्न हो जाएँ परंतु उनका अप्रसन्न हो जाना भी आत्मनिवेदन से पहले की दशा से तो उत्तम दशा ही है, कोई अधमदशा तो है नहीं कि पश्चात्ताप हो, यह विचार करना चाहिए । यदि इस प्रकार से विचार करेंगे तो भगवान को

प्रसन्न करने का साधन दीनता भी आ जाएगी और तब भगवान की अप्रसन्नता भी दूर हो जाएगी, यह अर्थ है ॥३॥

एवं जीवधर्मपुरस्कारेण विचारमुपदिश्य भगवतोऽप्रतिहतेच्छत्त्वानुसन्धानाय भगवद्धर्मपुरस्कारेण तमुपदिशन्ति । सत्यत्यादि ।

सत्यसङ्कल्पतो विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यति ।

आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहन्यथा भवेत् ॥ ४ ॥

विष्णुव्यापकः, अन्तर्यामितया सर्वान्तः प्रविष्टश्च यो भगवान् सत्यसङ्कल्पतः सत्यो विषयाव्यभिचारी यः सङ्कल्प आलोचनमिदमेवं करिष्यामीत्याकारकं तस्मादन्यथा प्रकारान्तरेण न करिष्यति । तुः शङ्कानिरासे । भगवान्निवेदितात्मनाम् आत्मेत्यस्मदभिप्रेतमेव करिष्यतीति शङ्का न कर्तव्या । यतः स तेषामीश्वरो नियामकोपि; अतस्तेषां विकृतेच्छायां तदनुरोधं न करिष्यति, किन्त्वमोघसङ्कल्पत्वात्स्वालोचितमेव करिष्यति, तद्धितार्थम् ।

आ प्रकारे आचार्यचरणे जीवधर्मनो विचार कर्था पछी हवे भगवद्-धर्मना विषयमां जतावी रह्या छे, जेना विषयमां आपत्री आज्ञा करी रह्या छे के भगवाननी ईच्छा मठी नथी शकती. अने तेओ सत्य ईत्यादि शब्दोथी आगणना श्लोकमां उपदिष्ट करी रह्या छे.

अही आचार्यचरणे आ आज्ञा करी रह्या छे के, भगवान विष्णु व्यापक छे, अन्तर्यामीरूपथी अधाना अन्तःकरणमां प्रविष्ट छे. जे भगवान सत्यसंकल्पी छे अथवा जे विषयमां विचार करे छे अमां परिवर्तन नथी करता, ते भगवान जे संकल्प ले छे के “हुं आ प्रकारथी करीश” अने पछी बीजा कोर प्रकाशनी नही करे अे जेणी लेवुं जेईअे. श्लोकमां प्रयुक्त ‘तु’ शब्द आ अर्थमां कोर पछा प्रकारनी शंका ने दूर करी रह्युं छे. हवे, केभके भगवान निवेदितात्माओनी आत्मा छे आथी आपछे जे धारीशुं तेओ अेवुं न करशे, अेवुं नही विचारवुं जेईअे. केभके तेओ तो निवेदिओना ईश्वर पछा छे अने नियामक पछा छे. आथी निवेदिओनी ईच्छा जे विकृत होय अथवा अनुचित होय तो तेओ अने पूर्ण नही करे अने भगवाननो संकल्प तो टणी नथी शकतो. आथी पोताना भक्तोनुं हित करवा भाटे अेभछे जे विचार राख्यो छे तेओ ते न करशे.

इस प्रकार से आचार्यचरण जीवधर्म का विचार करने के पश्चात् अब भगवद्-धर्म के विषय में बता रहे हैं । जिसके विषय में आपत्री आज्ञा कर रहे हैं कि भगवान की इच्छा टल नहीं सकती । इसे वे सत्य इत्यादि शब्दों से आगे के श्लोक में उपदिष्ट कर रहे हैं ।

यहाँ आचार्यचरण यह आज्ञा कर रहे हैं कि, भगवान-विष्णु व्यापक हैं, अन्तर्यामीरूप से सभी के अन्तःकरण में प्रविष्ट हैं । जो भगवान सत्य-संकल्पी हैं अर्थात् जिस विषय में विचार करते हैं, उसमें परिवर्तन नहीं करते। वह भगवान यदि ऐसा संकल्प लेते हैं कि ‘मैं इसी प्रकार से करूँगा’ तो फिर उसे किसी दूसरे प्रकार से नहीं करेंगे, यह जान लेना चाहिए। श्लोक में प्रयुक्त तु शब्द इस अर्थ में किसी भी प्रकार की शंका को दूर किए दे रहा है । अब चूँकि भगवान निवेदितात्माओं की आत्मा हैं अतः हम जो चाहेंगे वो वैसा ही करेंगे, ऐसा नहीं सोचना चाहिए क्योंकि वे तो निवेदियों के ईश्वर भी हैं एवं नियामक भी । अतः निवेदियों की इच्छा यदि विकृत है अर्थात् अनुचित है, तो वे उसे पूर्ण नहीं करेंगे । और भगवान का संकल्प तो टल नहीं सकता अतः अपने भक्तों का हित करने के लिए उन्होंने जो विचार रखा है, वे वही करेंगे ।

अयं तुशब्दोक्तः शङ्कानिरास उत्तरवाक्ये हेतुत्वेन प्रविशति । अत एवं

शङ्कानिरासाद्धेतोः सतत प्रमादराहित्येन निरन्तरं; आज्ञैव कार्या । अन्यथा प्रमादेनाकरण स्वामिद्रोहा महानपराधो भवेत् । अत्रापि ‘इति विचारये’ति पदं सम्बध्यते ॥४॥

आ श्लोकमां प्रयुक्त ‘तु’ शब्द आ न अर्थना उत्तर रूपे छे. आथी आ प्रकारे अधी शंकाओनुं निराकरण थई गया पछी हवे सतत, प्रमादरहित थईने निरन्तर भगवाननी आज्ञाने अनुसार न कार्य करवा जेईअे अने जे प्रमादवश थईने आवुं नही करीअे तो स्वामीद्रोह जेवो महान अपराध थई नशे. आ श्लोक पछी पछा “आनो विचार करो” आ वाक्य जेडी लेवुं जेईअे.

इस श्लोक में प्रयुक्त ‘तु’ शब्द इसी अर्थ के उत्तर के रूप में है । अतः इस प्रकार से सारी शंकाओं का निराकरण हो जाने के पश्चात् अब सतत, प्रमादरहित होकर निरन्तर भगवान की आज्ञानुसार ही कार्य करना चाहिए । अन्यथा प्रमादवश होकर यदि ऐसा नहीं करेंगे तो स्वामिद्रोह जैसा महान अपराध हो जाएगा । इस श्लोक के बाद भी “इसका विचार करो” यह वाक्य जोड़ लेना चाहिए ॥४॥

सेवकत्वपुरस्कारेण पुनर्विचारान्तरमुपदिशन्ति । सेवकस्यत्यर्द्धेन ।

सेवकस्य तु धर्मोयं स्वामी स्वस्य करिष्यति ।

त पुनरयं वक्ष्यमाणः सेवकस्य धर्मस्तं व्यक्तीकुर्वन्ति । स्वामी स्वस्य करिष्यतीति । स्वामी भर्ता स्वस्यात्मीयस्य मम

करिष्यति, मदर्थं यद्यदालोचितं तत् करिष्यति । अत्रापि तथा सम्बन्धः ।

હવે પાછું આચાર્યચરણ સેવકનો ધર્મ સેવકસ્ય ઈત્યાદિ શબ્દોથી ઉપદિષ્ટ કરી રહ્યા છે.

આચાર્યચરણોએ પૂર્વ શ્લોકમાં સેવકનો ધર્મ બતાવ્યો છે અને અહીં પાછું બતાવી રહ્યા છે આ 'તુ' શબ્દથી જણાય છે. સ્વામી સ્વસ્ય કરિષ્યતિ ઈત્યાદિ શબ્દોથી આચાર્યચરણ જીવને આ વિચાર કરવાનું કહી રહ્યા છે કે, હું તો ભગવાનનો આત્મીય છું, એથી મારા કાર્ય તો તેઓ અવશ્ય કરશે અર્થાત્ મારા માટે એમણે જે વિચારી રાખ્યું છે એને તેઓ અવશ્ય પૂર્ણ કરશે. આ શ્લોક પછી પણ "આનો વિચાર કરો" આ વાક્ય જોડી લેવું જોઈએ.

अब पुनः आचार्यचरण सेवक का धर्म सेवकस्य इत्यादि शब्दों से उपदिष्ट कर रहे हैं ।

आचार्यचरणों ने पूर्वश्लोक में सेवक का धर्म बताया है और यहाँ पुनः बता रहे हैं, यह 'तु' शब्द से ज्ञात होता है । स्वामी स्वस्य करिष्यति इत्यादि शब्दों से आचार्यचरण जीव को यह विचार करने के लिए कह रहे हैं कि, मैं तो भगवान का आत्मीय हूँ अतः मेरे कार्य तो वे अवश्य करेंगे अर्थात् मेरे लिए उन्होंने जो विचार रखा है, उसे वे अवश्य पूर्ण करेंगे । इस श्लोक के बाद भी "इसका विचार करो" यह वाक्य जोड़ लेना चाहिए ।

सेवकत्वविचारस्यावश्यकत्वाय तेनोपदेश विश्वासार्थं स्वाख्यायिकामुपदिशन्ति द्वाभ्याम् ।

आज्ञा पूर्वं या जाता गङ्गासागरसङ्गमे ॥ ५ ॥

यापि पश्चान्मधुवने न कृतं तद्द्वयं मया ।

देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः ॥ ६ ॥

पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोहं न चान्यथा ।

આજ્ઞાત્યાદિ । તુરવધારણે । પૂર્વમેવ ગંગાસાગરસંગમપ્રદેશે સમીપે વા યા આજ્ઞા જાતા પશ્ચાત્તદુત્તરકાલે મધુવને મથુરાયામપિ યાજ્ઞા જાતા, તદ્વયં મયા ભગવતા સ્વાત્માનુભાવપ્રકટનાર્થં શ્રીભાગવતગૂઢાર્થપ્રકટનાર્થં ચાજ્ઞાપ્તેન ન કૃતમ્ । તયોર્વિષયઃ ક ઇત્યાકાઙ્ગાયાં તયોર્વિષયમાહુઃ । દેહદેશપરિત્યાગઃ । દ્વન્દ્વાન્તે શ્રૂયમાણસ્ય પરિત્યાગશબ્દસ્ય પ્રત્યેકમભિસમ્બન્ધઃ । તથા ચ પૂર્વા દેહત્યાગવિષયિણી, દ્વિતીયા દેશત્યાગવિષયિણીતિ સિદ્ધ્યતિ । તદકરણે બીજન્તુ નાભિમાનો ન વા શાસ્ત્રવિરોધઃ । કિન્તુ; શ્રીભાગવતાર્થપ્રકટનાર્થજ્ઞાકાર્યસમ્પત્તિરેવ । નહિ દેહે ત્યક્તે સાજ્ઞા સિદ્ધ્યતિ; વાગ્વ્યાપારસ્ય તદ્દેતુકત્વેન તદભાવે તસ્યાપ્યભાવાત્ । પ્રકારાન્તરેણોક્તૌ ચ કલિગસ્તાનાં વિશ્વાસાભાવાત્ । નાપિ ભગવદ્દેશે ત્યક્તે દેશાન્તરસ્યાનીદૃશત્વેનૈતદ્વિચારપ્રતિબન્ધકત્વાત્ । તદેતદવધાર્ય આચાર્યૈરાજ્ઞાદ્વયં ન કૃતમ્ ।

હવે સેવક આ સમસ્ત વસ્તુઓનો વિચાર કરે અને આપશ્રીના ઉપદેશો પર દૃઢ વિશ્વાસ રાખે એ માટે આચાર્યચરણ આગળના બે શ્લોકો દ્વારા પોતાની આત્મગાથા સંભળાવી રહ્યા છે.

આજ્ઞા ઈત્યાદિ શબ્દોનો અર્થ કરી રહ્યા છે. આપશ્રીએ ત શબ્દ નો પ્રયોગ આ અર્થને ભલીભાંતિ સમજવાના અર્થમાં પ્રયુક્ત કર્યો છે. આચાર્યચરણ આ શ્લોકમાં આ આજ્ઞા કરી રહ્યા છે કે ગંગાસાગરસંગમવાળા સ્થાન પર અથવા એની નજીક મને જે ભગવદ્-આજ્ઞા થઈ અને એના પછી મધુવન-મથુરામાં પણ જે આજ્ઞા થઈ, એ બંને આજ્ઞાઓ મેં નહીં માની કેમકે ભગવાને એમનું સ્વરૂપ પ્રકટ કરવા માટે અને શ્રીભાગવતનો ગૂઢ-અર્થ પ્રકટ કરવા માટે મને આજ્ઞા આપી હતી. એ બંને આજ્ઞાઓ કયા વિષયમાં હતી એને આપશ્રી દેહદેશપરિત્યાગઃ ઈત્યાદિ શબ્દોથી કહી રહ્યા છે. અહીંયાં 'દેહદેશપરિત્યાગ' શબ્દમાં પરિત્યાગ શબ્દ દેહ અને દેશ બંનેની સાથે જોડાયેલો છે એથી અર્થ એ થયો કે પહેલી આજ્ઞા તો દેહપરિત્યાગ કરવા માટે થઈ અને બીજી આજ્ઞા દેશપરિત્યાગ કરવા માટે. આચાર્યચરણોએ ભગવાન દ્વારા આપવામાં આવેલી દેહપરિત્યાગવાળી આજ્ઞા નહીં માની, એમાં મૂળ કારણ એમનું પોતાનું અભિમાન નથી અને નથી એમાં કોઈ શાસ્ત્રનો વિરોધ પરંતુ સ્વયં ભગવાને આચાર્યચરણોને શ્રીભાગવતનો ગૂઢ-અર્થ પ્રકટ કરવાની આજ્ઞા આપી હતી એ કાર્યને પૂર્ણ કરવાની ઈચ્છા જ મૂળ કારણ છે. કેમકે જો દેહનો જ ત્યાગ કરી દે તો તે આજ્ઞા પૂર્ણ થાય એ સંભવ નહોતું; શ્રીભાગવતનો ગૂઢાર્થ પ્રકટ કરવામાં હેતું-સાધન તો વાણી જ છે, જો દેહ જ ન રહે તો વાણી પણ નહીં રહેશે અને જો આચાર્યચરણ શ્રીભાગવતનો ગૂઢાર્થ ભૌતિકદેહ ધારણ કર્યા સિવાય બીજા કોઈ માધ્યમથી કરત તો કલિયુગનાં જીવોને વિશ્વાસ ન થાત અને, આપશ્રીએ આ પણ વિચાર કર્યો કે ભગવદ્-દેશનો ત્યાગ કરી દઈએ તો અન્ય દેશ જે ભગવદ્-દેશ નથી, આવા દેશોમાં ભાગવતાર્થ પ્રકટ કરવાના વિચાર પણ સ્ફુરિત નહીં થાય. આ બધી વાતોનો વિચાર કરીને આચાર્યચરણોએ ભગવાનની બે આજ્ઞાઓનું પાલન ન કર્યું.

अब सेवक इन समस्त वस्तुओं का विचार करे और आपश्री के उपदेशों पर दृढ़ विश्वास रखे, इसके लिए आचार्यचरण आगे के दो श्लोकों द्वारा अपनी आत्मागाथा सुना रहे हैं।

आज्ञा इत्यादि शब्दों का अर्थ कर रहे हैं। आपश्री ने 'तु' शब्द का प्रयोग इस अर्थ को भलीभाँति से समझने के अर्थ में किया है। आचार्यचरण इस श्लोक में यह आज्ञा कर रहे हैं कि, गंगासागरसंगम वाले स्थान पर या उसके समीप मुझे जो भगवद्-आज्ञा हुई एवं इसके पश्चात् बाद में मधुवन-मथुरा में भी जो आज्ञा हुई, वह दोनों आज्ञाएँ मैंने नहीं मानी क्योंकि भगवान ने उनका स्वरूप प्रकट करने के लिए एवं श्रीभागवत का गूढार्थ प्रकट करने के लिए मुझे आज्ञा दे रखी थी। वे दोनों आज्ञाएँ किस विषय में थीं, इसे आपश्री देहदेशपरित्यागः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। यहाँ- "देहदेशपरित्यागः" शब्द में परित्याग शब्द 'देह' एवं 'देश' दोनों के साथ जुड़ा हुआ है अतः अर्थ यह हुआ कि पहली आज्ञा तो देहपरित्याग करने की हुई और दूसरी आज्ञा देशपरित्याग करने के लिए। आचार्यचरणों ने भगवान द्वारा दी गई देह-परित्याग वाली आज्ञा नहीं मानी, इसमें मूल कारण उनका खुद का अभिमान नहीं है और न ही इसमें कोई शास्त्र का विरोध है परंतु स्वयं भगवान ने आचार्यचरणों को श्रीभागवत का गूढार्थ प्रकट करने की आज्ञा दी थी, उस कार्य को पूर्ण करने की इच्छा ही मूल कारण है। क्योंकि यदि देह का ही त्याग कर दें तो वह आज्ञा पूर्ण होनी संभव नहीं थी; श्रीभागवत का गूढार्थ प्रकट करने में हेतु-साधन तो वाणी ही है, यदि देह ही न रहे तो वाणी भी नहीं रहेगी। और यदि भागवतार्थ देह-वाणी के माध्यम से न करके आचार्यचरण किसी दूसरे माध्यम से करते तो कलिग्रस्त जीवों को उन पर विश्वास ही न होता। और, आपश्री ने यह भी विचार किया कि, यदि भगवद्-देश का त्याग कर दें तो अन्य देश जो भगवद्-देश नहीं हैं, ऐसे देशों में भागवतार्थ प्रकट करने के विचार भी स्फुरित नहीं होंगे। इन्हीं सब बातों का विचार करके आचार्यचरणों ने भगवान की दो आज्ञाओं का पालन नहीं किया।

भगवतस्त्वयमाशयः । देह उपचयः ; देशो दानम्; 'दिह उपचये', 'दिश अतिसर्जने' इति

धातुनिष्पन्नत्वाद्यौगिकावेतौ शब्दावाज्ञायामुक्तौ । तथा च, उपचयो बाहुल्यं दानञ्च परित्यक्तव्यम् । न च पूर्वाज्ञप्तासम्पूर्तिदोषः। यावदुक्तमेतावत्कृत्यैव साज्ञा कृतास्तु; अधिकं न कार्यम् । रहस्यप्रकाशस्यानभिप्रेतत्वात्। अधिककरणेनानधिकारिणामपि तज्ज्ञानसम्भवेन कृतार्थताप्रसक्तावधिकार्यनधिकारिविभागभङ्गाद्यापत्तेः। इदञ्च सूक्ष्मटीकातिरोधानस्कन्धक्रमव्याख्या त्याजनद-शमस्कन्धव्याख्यानानन्तरसामयिकमाधवभट्टकाश्मीरिशरीरशराहतिप्रभृतिभिः कार्यैरनुमीयते । सोयमाचार्यैर्नावधारितः ।

भगवाने जे आचार्यचरणोंने देह-देशनो परित्याग करवानी आज्ञा आपी हती; अेमां भगवाननो आशय पण समञ्ज लईअे. देह-नो अर्थ थाय छे 'उपचय' अर्थात् बहुलता, देशनो अर्थ थाय छे 'दान'. आ अंने अर्थ क्रमशः 'दिह उपचये' अने 'दिश अतिसर्जने' अेम धातु- अर्थथी सिद्ध थाय छे, तेमज्ज यौगिक शब्द छे. आचार्यचरणोंने भगवाने आ अंने अर्थोमां देह-देश नो परित्याग करवानी आज्ञा आपी आ समञ्ज लेवुं नैछेअे. अर्थात् भगवाने अेमने आ आज्ञा करी के भगवतनो गूढार्थ बहुलता अथवा तो विस्तारथी प्रकट करवानो परित्याग करो अने जिवोने आवश्यकताथी वधारे दान नई आपो. (आगणनी पंडितमां टीकाकार आ अतावी रह्या छे के भगवाने आचार्यचरणोंने कर्ष वस्तुनुं आवश्यकताथी अधिक दान देवानी ना पाडी.) अही आ शंका करवी उचित नथी के भगवाने जे श्रीभागवतनो गूढार्थ प्रकट करवानी पूर्वमां आज्ञा आपी हती अेना पूर्ण थया पहलां अेमणे बीज आज्ञा आपी दीधी केमके भगवाने जेटलुं करवानुं कहुं हतुं अेटलुं न करी लेवाथी अेमनी आज्ञानुं पालन तो थई न गयुं हवे अेनाथी वधारे करवानी कोर्ष आवश्यकता नथी केमके अधिक करवाथी अे अे छे के पुष्टिमार्गना गूढ रहस्य प्रकाशित थई नशे, जे प्रभुनी ईच्छा नथी. श्रीमद्-भागवतनो गूढार्थ अधिक प्रकाशित करवाथी अनधिकारी जिवोनी सामे आ मार्गनुं रहस्य नहेर थवानो अे अेथी कृतार्थ थवाना संदर्भमां अधिकारी तथा अनधिकारी जिवोना विभाग न अंग थई नशे. भगवानने भगवतनो गूढार्थ अेनाथी अधिक प्रकाशित थाय अे ईच्छित नथी अेनुं अनुमान अेनाथी करवामां आवे छे के सर्वप्रथम तो आचार्यचरणो द्वारा श्रीभागवत पर लभायेली सूक्ष्म टीका न तिरोहित थई गई. पछी आपश्री जे क्रमथी स्कंधोनी व्याख्या करी रह्या हता ते छूटी गयो. अेना पछी दशम स्कंधनी व्याख्या पूर्ण थवाना समये आपश्रीना लेखक श्रीमाधवभट्ट काश्मीरी तीरथी घायल थईने हरिशरण थई गयो. आ समस्त वातोथी अनुमान कराय छे के भगवानने श्रीभागवतनो गूढार्थ अेनाथी अधिक प्रकाशित करवानी ईच्छा न हती. आचार्यचरण आ अधी वातोनुं तात्पर्य न समञ्ज शक्या.

भगवान ने जो आचार्यचरणों को देह-देश का परित्याग करने को आज्ञा दी थी; उसमें भगवान का आशय क्या था, यह भी समझ लें। देह का अर्थ होता है 'उपचय' अर्थात् बहुलता; देश का अर्थ होता है 'दान'। यह दोनों अर्थ क्रमशः 'दिह उपचये' एवं 'दिश अतिसर्जने' यों धातु-

अर्थ से सिद्ध होते हैं एवं यौगिक-शब्द हैं, आचार्यचरणों को भगवान ने इन दोनों अर्थों में देह-देश का परित्याग करने की आज्ञा दी, यह समझ लेना चाहिए। अर्थात् भगवान ने उन्हें यह आज्ञा की कि - भागवत का गूढार्थ बहुलता या विस्तार से प्रकट करने का परित्याग करो एवं जीवों को आवश्यकता से अधिक दान मत दो। (आगे की पंक्ति में टीकाकार यह बता रहे हैं कि, भगवान ने आचार्यचरणों को किस वस्तु को आवश्यकता से अधिक दान देने के लिए मना किया)। यहाँ यह शंका करनी उचित नहीं है कि भगवान ने जो श्रीभागवत का गूढार्थ प्रकट करने की पूर्व में आज्ञा दी थी, उसे पूर्ण हुए बिना उन्होंने दूसरी आज्ञा दे दी क्योंकि भगवान ने जितना करने के लिए कहा था उतना ही कर देने से उनकी आज्ञा का तो पालन हो ही गया, अब इससे अधिक करने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि अधिक करने से भय यह है कि पुष्टिमार्ग के गूढ रहस्य प्रकाशित हो जाएँगे, जो प्रभु को अभिप्रेत नहीं है। श्रीमद्-भागवत का गूढार्थ अधिक प्रकाशित करने से अनधिकारी-जीवों के सामने भी इस मार्ग का रहस्य खुल जाने का भय है अतः कृतार्थ होने के संदर्भ में अधिकारी एवं अनधिकारी जीवों का विभाग ही भंग हो जायेगा। भगवान को भागवत का गूढार्थ इससे अधिक प्रकाशित होना अभिप्रेत नहीं है, इसका अनुमान इससे लगाया जाता है कि सर्वप्रथम तो आचार्यचरणों द्वारा श्रीभागवत पर लिखी गई सूक्ष्म-टीका ही तिरोहित हो गई, फिर आपश्री जो कम से स्कंधों की व्याख्या कर रहे थे, वह छूट गया। इसके पश्चात् दशमस्कंध की व्याख्या पूर्ण होने के समय आपश्री के लेखक श्रीमाधवभट्ट काश्मीरी तीर से घायल होकर हरिशरण हो गये। इन्हीं समस्त बातों से अनुमान लगाया जाता है कि भगवान को श्रीभागवत का गूढार्थ इससे अधिक प्रकाशित करने की इच्छा नहीं थी। आचार्यचरण इन बातों का तात्पर्य नहीं समझ पाए।

न वाचार्याणां भगवदाज्ञार्थानवधारणकथनमयुक्तमिति शक्यम् ; भक्तानां पञ्चाध्यायीस्थस्कन्धारोहणवाक्यार्थाज्ञानवत् सम्भवात् । तदा तृतीयाज्ञा जाता । तद्विषयस्तृतीयपरित्यागः स लोकगोचरः । 'लोकस्तु भुवने जन' इति कोशाज्जनविषयः । स च संन्यासेन भव 'त्येकचार्यनिकेतः स्यादि'त्यादिवाक्यैः संन्यासे तथात्वात् । तत्र तादृश्यामाज्ञायां जातायां पश्चात्तापा मम जात इति शेषः । स कथं केन प्रकारेणेति विचार्यमाणे, सेवकोहं; अहं सेवक इति सेवकत्वप्रकारेणाज्ञाभङ्गकरणहेतुकः । च पुनरन्यथा न, स्वचिकीर्षितकार्यासम्पूर्त्यादिहेतुको न । अतो मत्कृत्यादिविचारेपि मत्सेवकत्वपुरस्कारेण विचारात् पश्चात्ताप एव युक्त इत्यर्थः ।

जेवी रीते रासपंचाध्यायीमां ज्यारे श्रीकृष्णजे गोपीओने पोताना भला उपर यदी जवानुं कहुं अने गोपीओ अेभना कहेवानुं तात्पर्य समलु नहीं शकी (जुओ श्री. भा. १०/३०/३८, ३९, ४०) जेवी रीते अहीयां पण आचार्ययरण भगवद्-आज्ञानुं तात्पर्य नहीं समलु शक्या. अही आ कहेवुं उचित नहीं होय कारणके आचार्ययरणोअे न्हाणी जेईने भगवाननी जे आज्ञाओ नहोती भानी - त्यारे त्रीलु भगवद्-आज्ञा थई. आ त्रीलु आज्ञामां परित्यागनो अर्थ हतो लोकगोचरः. लोक शब्दनो अर्थ कोशने अनुसार भवन पण थाय छे अने जनसमुदाय पण. अने आ त्रीजे परित्याग संन्यासग्रहण द्वारा ज थई शकतो हतो केभके "संन्यासीने जेईअे के ते अेकलो ज रहे तेम ज घरमां न रहे" ईत्यादि वाक्योने अनुसार संन्यासनुं स्वरूप अेवुं ज कहेवामां आव्युं छे. जेवी आज्ञा थवा पर आचार्ययरण कहे छे के अेभना मनमां पश्चात्ताप थयो. आपश्रीने पश्चात्ताप केम अने केवा प्रकारनो थयो अे तेओ सेवकोहं शब्दथी कही रह्या छे. आपश्रीनुं तात्पर्य अे छे के-हुं तो सेवक छुं अने सेवक होवाने नाते पोताना स्वामी-भगवाननी आज्ञा अंग करवाना कारणे मने पश्चात्ताप थयो, अन्यथा अर्थात् पोताना श्रीमद्-भागवतगूढार्थप्रकाशननुं कार्य अधूरुं रही जवाना कारणे नहीं. आथी आपश्री अेम कहेवा मागे छे के भले मारी भागवतगूढार्थ अने भगवद्-स्वरूपनुं प्रकाशन करवा जेवी कृतियोनो विचार करी लईअे तो पण अेक भगवद्-सेवक होवाने नाते मने पश्चात्ताप थयो उचित ज छे, आ अर्थ छे.

जैसे रासपंचाध्यायी में जब श्रीकृष्ण ने गोपियों से अपने कंधों पर चढ़ जाने को कहा और गोपियों उनके कहे का तात्पर्य समझ नहीं पायीं (देखें श्री०भा० १०/३०/३८, ३९, ४०) वैसे यहाँ भी आचार्यचरण भगवद्-आज्ञा का तात्पर्य नहीं समझ पाये। तब तीसरी भगवद्-आज्ञा हुई। उस तृतीय-आज्ञा में परित्याग का अर्थ था लोकगोचरः। लोक शब्द का अर्थ कोश के अनुसार 'भवन' भी होता है और 'जन-समुदाय' भी और यह तीसरा परित्याग संन्यास-ग्रहण के द्वारा ही हो सकता था क्योंकि "संन्यासी को चाहिए कि वह अकेला रहे एवं घर में न रहे (श्री०भा० ११/९/१४)" इत्यादि वाक्यों के अनुसार संन्यास का स्वरूप ऐसा ही कहा गया है। ऐसी आज्ञा होने पर आचार्यचरण कहते हैं कि, उन्हें मन में पश्चात्ताप हुआ। आपश्री को पश्चात्ताप क्यों और किस प्रकार का हुआ, यह वे सेवकोहं शब्द से कह रहे हैं। आपश्री का तात्पर्य यह है कि - मैं तो सेवक हूँ और सेवक होने के नाते अपने स्वामी-भगवान की आज्ञा भंग करने के कारण मुझे पश्चात्ताप हुआ; अन्यथा अर्थात् अपने श्रीमद्-भागवतगूढार्थ के प्रकाशन का कार्य अधूरा रह जाने के कारण नहीं। अतः आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि - भले ही मेरी भागवतगूढार्थ एवं भगवद्-स्वरूप का प्रकाशन करने जैसी कृतियों का विचार कर लें, तब भी एक भगवद्-सेवक होने के नाते मुझे पश्चात्ताप होना उचित ही है, यह अर्थ है।

तदनन्तरमाज्ञाद्वयं देहदेशपरित्यागविषयं गङ्गासागरसङ्गमे मथुरायाञ्च जातमिति । एवमाज्ञात्रयं सिद्धम् । तत्र श्रीमदाचार्येष्वतिकरुणत्वमस्ति न वेति लोकानां संशयनिवारणार्थं पुष्टिमार्गस्थत्वात् स्वस्य वा तदर्थं प्राकट्यानन्तरमाज्ञाद्वयमतिकरुणत्वविरोधिजातम्, तदाज्ञाद्वयं स्वस्य भगवतश्च स्वाङ्गीकृतेषु अतिकरुणत्वख्यापनार्थं न कृतम्, तत्कृतौ हि सर्वमाज्ञासं न स्यात्तेन च स्वाङ्गीकृतानामनुद्धारः स्यात्, तेन चोभयस्य करुणत्वं न स्यात्, यदि तदेव न स्यात्तदा पूर्वं तदर्थं नाज्ञापयेत् । भगवान् स्वयं च नाविर्भूयात् ।

हवे अर्हीथी श्रीपुत्रुषोत्तमज्ञानो स्वतंत्र लेख आरंभ थाय छे. हवे अमे आज्ञा पूर्वन्तु या जाता इत्यादि पदोना विषयमां कंठ विशेष कही रह्या छीअे. अर्ही सर्वप्रथम अे न्नाणी लेवुं न्नेईअे के, आचार्यचरणोनां भूतल पर प्रकट थवाना पहलेलां न “विश्वना उद्धार माटे भागवतनो यथार्थ प्रकट करवा माटे मुन वैश्वानर (श्री महाप्रभुजी) सिवाय भीनुं कोई समर्थ नथी. आ विचार करीने भगवाने वेदव्यासनी जेम मने न मानवदेहथी संपन्न करीने भागवतनो गूढार्थ प्रकट करवा माटे भूतल पर प्रकट थवानी आज्ञा आपी छे. (सु./प्र.अ./मंगलाचरण/५)” आ श्लोक अनुसार भगवान् अेमने पहलेली आज्ञा तो आपी यूक्या हता. अेना पछी देह अने देशना परित्यागनी जे भील आज्ञाओ अेमने क्रमशः गंगासागरसंगम अने मथुरामां थई. आ प्रकारे बधी मणीने त्रण आज्ञाओ थई, अेम सिद्ध थाय छे. हवे श्रीमद्-आचार्यचरणोमां अति कड़ा छे के नर्ही-लोकमां आ प्रकारनां संशयनुं निवारण करवा माटे अने कारण के आचार्यचरणो पुष्टिमार्गस्थ छे अने आना लीधे न आपश्रीनो प्राकट्य थयो छे तेथी भगवाननी देहदेश परित्यागनी अन्ने आज्ञाओ आपश्री मां ज्यो प्रत्ये रहेल करुणा थी विपरीत नई रही हती अने आना लीधे न पोतानी तेमन भगवान् द्वारा अंगीकृत ज्यो प्रति पोतानी कड़ा न ताववा माटे आचार्यचरणोअे अे अंने आज्ञाओनुं पालन न कर्युं. जे अे आज्ञाओनुं पालन करी लेत तो भगवाननी बधी आज्ञाओनुं पूर्णरूपथी पालन करवुं सिद्ध न थात. (अर्थात् श्रीमद्-भागवत गूढार्थ प्रकाशननी आज्ञा अधूरी रही नत.) अने अेनाथी अंगीकृतज्योनुो उद्धार करवानुं बाकी रही नत. अेनाथी न तो आचार्यचरणमां कड़ा छे अे सिद्ध थई शकत अने न तो भगवानमां कड़ा छे अे सिद्ध थई शकत. जे भगवानमां ज्यो प्रति कड़ा न होत तो तेओ आचार्यचरणोने ज्योनुो उद्धार करवानी आज्ञा केम आपत ? अने भगवान पोते पण श्री गोकुलमां आविर्भूत थईने केम रस्तो अतावत न्यारे आचार्यचरणोने चिंता थई रही हती?

अब यहाँ से आगे श्रीपुरुषोत्तमजी का स्वतंत्रलेख आरंभ होता है । अब हम आज्ञा पूर्वन्तु या जाता इत्यादि पदों के विषय में कुछ विशेष कह रहे हैं । यहाँ सर्वप्रथम यह जान लेना चाहिए कि, आचार्यचरणों के भूतल पर प्रकट होने से पहले ही, “विश्व के उद्धार के लिए भगवत का यथार्थ प्रकट करने के लिए मुझ वैश्वानर (श्रीमहाप्रभुजी) के अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा समर्थ नहीं है, यह विचार करके भगवान ने वेदव्यास की भाँति मुझे ही मानवदेह से संपन्न करके भागवत का गूढार्थ प्रकट करने के लिए भूतल पर प्रकट होने की आज्ञा दी है (सुबो०/प्र० अध्याय / मंगलचरण/५)” इस श्लोकानुसार भगवान उन्हें पहली आज्ञा तो दे चुके थे । इसके पश्चात् देह और देश के परित्याग की दो और आज्ञाएँ उन्हें क्रमशः गंगासागरसंगम एवं मथुरा में हुई, इस प्रकार से कुल मिलाकर तीन आज्ञाएँ हुई, यह सिद्ध होता है । अब ऐसे में श्रीमदाचार्यचरणों में अति करुणा है या नहीं, लोक में इस प्रकार के संशय का निवारण करने के लिए और चूँकि आचार्यचरण पुष्टिमार्गस्थ हैं और इसी के लिए आपश्री का प्राकट्य हुआ है अतः भगवान की देहदेशपरित्याग की दोनों आज्ञाएँ आपश्री में जीवों के प्रति रही करुणता के विरुद्ध जा रही थी । और इसी कारण; अपने एवं भगवान द्वारा अंगीकृत जीवों के प्रति अपनी करुणा जताने के लिए आचार्यचरणों ने उन दोनों आज्ञाओं का पालन नहीं किया । यदि उन आज्ञाओं का पालन कर लेते तो भगवान की सभी आज्ञाओं का पूर्वरूप से पालन करना सिद्ध न होता (अर्थात् श्रीमद्-भागवत गूढार्थ-प्रकाशन की आज्ञा अधूरी रह जाती) और इससे जीवों का उद्धार करना शेष रह जाता । इससे न तो आचार्यचरणों में करुणता है यह सिद्ध हो पाता और न ही भगवान में करुणता है, यह सिद्ध हो पाता । यदि भगवान में जीवों के प्रति करुणा न होती तो वे आचार्यचरणों को जीवों का उद्धार करने की क्यों आज्ञा देते ? और खुद भगवान भी श्रीगोकुल में क्यों आविर्भूत होकर रास्ता सुझाते, जब आचार्यचरणों को चिंता हो रही थी ?

नत्वेवम् । अतः परिक्षार्थत्वान्नान्तःकरणगोचरा । अतो न विशेषगत्यादि कृतमित्यर्थः । न च पूर्वयैव तत्सम्भवे किं देशत्यागविषयिण्या तयेति वाच्यम्, क्रीडादेशे त्यक्ते विरहेण स्वमेव देहं त्यक्ष्यन्तीति तेनातिकरुणत्वमेव परीक्षितं न विष्यतीति भगवदभिप्रायः । श्रीमदाचार्यैस्तु तदपि तथैव ज्ञातमिति सापि न कृतेति भावः । नन्वयमेवाशयो भगवतः श्रीमदाचार्याणाञ्च तथैव ज्ञानं जातं, इत्यत्र किं मानमित्यपेक्षायां भगवदादिसर्वसम्मतं हेतुमाहुः । तृतीयो लोकगोचर इति । तद् द्वयापेक्षया पूर्वमाज्ञासः सर्वोद्धारः लोकगोचर इति न किञ्चिद् अलौकिकं मानं वाच्यम् । किन्तु सर्वलोकप्रसिद्धमेव मानमित्यर्थः । एवं कृते पश्चात्तापः

कथम् ? न कथमपि । यतः सेवकधर्मोन्तःकरणकमाज्ञप्तकरणम्, न चान्यथा तद्विरुद्धमित्यर्थः । अत एव श्रीमदाचार्यैराज्ञप्तं विवेकधैर्याश्रये 'विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादि'त्यनेनेतिदिक् । (इति स्वतन्त्रलेखः) ॥५-६॥

येथी भगवान् के आचार्यचरणोने ज़ुवो प्रति क़ड़णा नथी अेवुं नथी, अेथी अही आ समजवुं ज़ेथे के भगवाने आचार्यचरणोनी परीक्षा लेवा माटे अेवी आज्ञाओ आपी अने अे आज्ञाओ भगवाननी अंतःकरणगोचर आज्ञाओ नहोती अने अे कारणे आचार्यचरणोअे अे आज्ञाओने अनुज्ञप कोर्र विशेष कार्य नही क़रुं, अे अर्थ छे. अही अेवी शंका न करवी ज़ेथे के ज़े भगवाने परीक्षा न करवी हती तो तेमणे पहेलां देशत्याग नी आज्ञा केम न करी ? पहेलां देहत्याग अने पछी देशत्याग नी आज्ञा केम?? कारणके ज़े तेओ आचार्यचरणोने पहेलां देशत्यागनी आज्ञा आपत तो आपश्री भगवानना क्रीडास्थल-ब्रजभूमिनो त्याग करी देत अने अेना विरहमां पोतेन देह नो पण त्याग करी देत अने आनाथी आपश्रीमां पोताना ज़ुवो प्रत्ये अतिक़ड़णता छे के नही-आनी परीक्षा थर्र न शकत, आ भगवाननो अभिप्राय हतो. तेथी आचार्यचरणोने भगवाननी आ बीज आज्ञा पण अंतःकरणगोचर न लागी अेथी अेमणे आ आज्ञानुं पण पालन न क़रुं आ भाव छे. परंतु अही अेकप्रश्न आ थाय छे के भगवाननो आशय आचार्यचरणोनी परीक्षा लेवानो हतो अने आचार्यचरणोने पण अेम न लाग्युं हतुं के आ भगवाननी अंतःकरण गोचर आज्ञाओ नथी अने तेओ परीक्षा लेवा माटे आवुं करी रह्या छे, अेमां शुं प्रमाण छे? ज़े आवी शंका थती होय तो आचार्यचरण आनो सर्वसम्मत-हेतु तृतीयो लोकगोचरः वगेरे शब्दो थी कही रह्या छे. आ शंकाना समाधानमां अही आ समजके देहदेशपरित्याग नी आ ज़े आज्ञाओ करता आचार्यचरणोने पहेला न श्रीमद्-भागवतनो गूढार्थ प्रकट करवानी प्रभु -आज्ञा थर्र युकी छे, ज़े लोकप्रसिद्ध वात छे न. हवे आना सिवाय बीजुं कोर्र अलौकिक प्रमाण शुं कही शकय ? ज़ेअर आन सर्वलोकप्रसिद्ध प्रमाण छे. तेवी आ समस्त परिस्थितिनुं विचार करतां आचार्यचरण कही रह्या छे के -मने पश्चात्ताप शा माटे करवुं ज़ेथे ? कोर्र पण प्रकार थी नही. केमके सेवकनो धर्म अे न छे के ते अंतःकरणगोचर आज्ञानुं पालन करे न च अन्यथा अर्थात् अेनाथी विरुद्ध नही, अे अर्थ छे. आ न कारणे आचार्यचरणोअे विवेकधैर्याश्रय ग्रंथमां आ कहुं छे के "जे भगवाननी कोर्र विशेष आज्ञा थर्र नय अने ते अंतःकरणगोचर होय, तो न अेने अनुज्ञप कोर्र विशेष कार्य करवुं ज़ेथे. (वि.धै.आ./३)" तो आ दिशा हवे अही स्पष्ट थर्र गर्थ छे. (आ श्रीपुरुषोत्तमजुनो स्वतंत्र लेख पूर्ण थयो)

अतः भगवान या आचार्यचरणों को जीवों के प्रति करुणा नहीं है-ऐसा नहीं है अतः यहाँ यह समझना चाहिए कि भगवान ने आचार्यचरणों की परीक्षा लेने के लिए ऐसी आज्ञाएँ दी और वे आज्ञाएँ भगवान की अन्तःकरणगोचर आज्ञाएँ नहीं थीं और इसी कारण आचार्यचरणों ने उन आज्ञाओं के अनुरूप कुछ विशेष कार्य नहीं किया, यह अर्थ है । यहाँ ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए कि यदि भगवान को परीक्षा ही करनी थी तो उन्होंने पहले देशत्याग की आज्ञा क्यों न की ? पहले देहत्याग और फिर देशत्याग की क्यों ?? क्योंकि यदि वे आचार्यचरणों को पहले देशत्याग की आज्ञा कर देते तो आचार्यचरण भगवान के क्रीडास्थल-ब्रजभूमि का त्याग कर देते और विरह में अपने आप ही देह का भी त्याग कर देते और इससे आपश्री में अपने जीवों के प्रति अतिकरुणता है, इसकी परीक्षा ही न हो पाती- यह भगवान का अभिप्राय था अतः आचार्यचरणों को भगवान की यह दूसरी आज्ञा भी अन्तःकरणगोचर न लगी अतः उन्होंने उस आज्ञा का भी पालन नहीं किया, यह भाव है । परंतु यहाँ एक प्रश्न यह होता है कि, भगवान का आशय आचार्यचरणों की परीक्षा लेने का था और आचार्यचरणों को भी यही लगा कि ये भगवान की अन्तःकरणगोचर आज्ञाएँ नहीं है और वे परीक्षा लेने के लिए ऐसा कर रहे हैं, इसमें क्या प्रमाण है ? यदि ऐसी शंका होती हो तो आचार्यचरण इसका सर्वसम्मत-हेतु तृतीयो लोकगोचरः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं । इस शंका के समाधान में यहाँ यह समझें कि देह-देश परित्याग की इन दोनों आज्ञाओं की अपेक्षा पहले ही आचार्यचरणों को श्रीमद्-भागवत का गूढार्थ प्रकट करने की प्रभु-आज्ञा हो चुकी है जो लोकप्रसिद्ध बात है ही । अब इसके अतिरिक्त और दूसरे अलौकिक प्रमाण क्या कहें अपितु यही सर्वलोकप्रसिद्ध प्रमाण है । अतः इन समस्त परिस्थितियों का विचार करते हुए आचार्यचरण कह रहे हैं कि-मुझे पश्चात्ताप क्यों करना चाहिए ? किसी भी प्रकार से नहीं । क्योंकि सेवक का धर्म यही है कि, वह अन्तःकरणगोचर आज्ञा का पालन करे न च अन्यथा अर्थात् इससे विरुद्ध नहीं, यह अर्थ है । इसी कारण आचार्यचरणों ने विवेकधैर्याश्रय-ग्रंथ में यह कहा है कि यदि भगवान की कोई विशेष-आज्ञा हो जाय और वह अन्तःकरणगोचर हो, तब ही उसके अनुरूप कोई विशेष कार्य करना चाहिए (वि०धै०आ०१३) सो यह दिशा अब यहाँ स्पष्ट हो गई है । (यह श्रीपुरुषोत्तमजी का स्वतंत्र-लेख पूर्ण हुआ) ॥५-६॥

ननु युक्तोयं विचारस्तथापि पूर्वापराधजनितभगवदप्रसन्नताया अनिवृत्तौ भयरूपोयमुद्वेगः, स कथं निवर्ततामित्याशङ्क्यां तदर्थं विचारान्तरमुपदिशन्ति । लौकिक प्रभुवदित्यादि ।

लौकिकप्रभुवत्कृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन ॥ ७ ॥

सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोसि सुखी भव ।

लौकिका हि प्रभवोपराधेनाप्रसन्नाः कस्यचित्प्रसीदन्ति, कस्यचिन्न प्रसीदन्ति, तद्वत् कृष्णा भगवान् कदाचन अवतारकालेऽनवतारकाले च न द्रष्टव्यः । अवतारकाले 'अहो बकीयमि'तिवाक्येन अनवतारकाले च वरणश्रुत्या 'प्रह्लादाय यदा द्रुहोद्धनिष्येपि वरोर्जितमि'ति देवान् प्रति भगवद्वाक्येन चापराधक्षन्तृत्वपूर्वकसत्फलदातृत्वस्य भक्ते कृपालवस्य च सिद्धत्वात् । त्वया च सर्वं भक्त्या भगवते समर्पितमतो भक्तत्वात् कृतार्थोसि । 'एवं धर्मैर्मुष्याणामि'तिवाक्ये भगवता भक्तौ जातायां निरवशेषार्थामिकथनात् सर्वं साधनरूपं फलरूपं चार्थं प्राप्तवानसि । अतः सुखी भव, दौर्मनस्यनिवारणेन निवृत्तो भवेत्यर्थः । इयं चोक्तविचारात्मकाज्ञाकर्तुः प्रभुभिराशीरेव दीयते ।

हवे अहीं आ शंका थाय छे के, यालो अेवो विचार करवो ठीक छे परंतु तो पण पूर्वमां भगवद्-आज्ञा न मानवाना अपराधना कारणे भगवान् अप्रसन्न तो थया न छे. आथी न्यां सुधी भगवान्नी अप्रसन्नता दूर न थाय त्यां सुधी तो आपश्रीने भयङ्गी उद्वेग तो थई न रह्यो छे, ते केवी रीते दूर थशे ? आ आशंका थवाथी हवे लौकिक प्रभुवत् ईत्यादि शब्दोथी आपश्री बीज विचारोनी उपदेश करी रह्या छे.

आचार्यचरणना कहेवानुं तात्पर्य अे छे के, लौकिक स्वामी न सेवकना अपराधोथी अप्रसन्न थाय छे, कोईना पर प्रसन्न थाय छे तो कोईना पर प्रसन्न नथी थता, अेवा लौकिक स्वामीनी जेम भगवान्-कृष्णने नही समन्यवा जेईअे; कदाचन अर्थात् भले भगवान्ना अवतारनो समय होय के अनवतारनो, कोई पण कालमां भगवान्-कृष्णने अेवी संशयपूर्ण दृष्टिथी नही जेवा जेईअे, केभके अवतार कालमां "शुं आश्चर्य छे के, जे पूतनाअे भगवान्ने मारी नाभवानी ईच्छा राभी परंतु भगवान्ने अेने पण धायनी गति प्रदान करी (श्री.भा.३/२/२३)" आ वाक्य द्वारा तेभज अनवतार-कालमां "परमात्मा जेना पर कृपा करीने वरण करे छे अे जेवने न प्राप्त थाय छे, जेव द्वारा करेला साधनोथी प्राप्त नथी थता. (कठो.१/२/२३)" आ वरणश्रुति अने श्रीमद्-भागवतमां कहेला "न्यारे हिरण्यकशिपु पोताना महात्मा पुत्र प्रह्लादथी द्रोह करशे तो वरदानने कारण शक्तिसंपन्न होवा छतां पण हुं तेनो वध करीश (श्री.भा.७/४/२८)" आ भगवद्-वाक्यने अनुसार पण अे न सिद्ध थाय छे के भगवान् जेवना अपराधोने क्षमा करीने उत्तम-फल आपे छे तेभ न भक्त माटे कृपाणु छे. अेथी आचार्यचरण पोताना अंतःकरणने/ जेवने आ कही रह्या छे के तमे तो भक्ति द्वारा पोतानुं अंधुं भगवान्ने समर्पण कर्युं छे अेथी भक्त होवाने नाते तमे कृतार्थ छे. अने "हे उद्धव ! जे आ भगवद्-धर्मोनुं पालन करे छे तेभज मारा प्रति आत्मनिवेदन करी दे छे अेमना माटे हवे कयो पुत्रार्थ करवो आकी रही नय छे? (श्री.भा.११/१८/२४)" आ वाक्य द्वारा भगवान्ने अेम कहे छे के भक्ति उत्पन्न थवाथी समस्त अर्थ प्राप्त थई नय छे तेथी आचार्यचरण कही रह्या छे के भगवान्ने अंधुं कांई समर्पित करी देवाना कारणे साधन अने फलरूप अर्थ (अर्थात् भगवान्)ने तमे प्राप्त करी लीधा छे. अेथी सुभी रह्यो अने मननी क्लुषतानुं निवारण करीने निवृत्त थई नअो, आ अर्थ छे. अने उपर्युक्त वातोनी विचार करीने प्रभु-आज्ञानुं पालन करवावाणाने प्रभु आशीर्वाद न आपे छे, अेना पर अप्रसन्न थता नथी.

अब यहाँ यह शंका होती है कि चलो ऐसा विचार करना ठीक है परंतु फिर भी पहले भगवद्-आज्ञा न मानने के अपराध के कारण भगवान् अप्रसन्न तो हुए ही हैं अतः जब तक भगवान् की अप्रसन्नता दूर न हो तब तक तो आपश्री को भयरूपी उद्वेग हो ही रहा है, वह कैसे दूर होगा ? यह आशंका होने पर अब लौकिकप्रभुवत् इत्यादि शब्दों से आपश्री दूसरे विचारों का उपदेश कर रहे हैं ।

आचार्यचरण का तात्पर्य यह है कि, लौकिक-स्वामी ही सेवक के अपराधों से अप्रसन्न होते हैं । किसी पर प्रसन्न होते हैं तो किसी पर प्रसन्न नहीं होते । ऐसे लौकिक-स्वामी की तरह भगवान्-कृष्ण को नहीं समझ लेना चाहिए; कदाचन अर्थात् चाहे भगवान् के अवतार का समय हो या अनवतार का, किसी भी काल में भगवान्-कृष्ण को ऐसी संशयपूर्ण दृष्टि से नहीं देखना चाहिए क्योंकि अवतार-काल में "क्या आश्चर्य है कि जिस पूतना ने भगवान् को मार डालने की इच्छा रखी परंतु भगवान् ने उसे भी धाय की गति प्रदान की (श्री०भा०३/२/२३)" इस वाक्य द्वारा एवं अनवतार-काल में "परमात्मा जिस पर कृपा करके वरण करते हैं उस जीव को ही प्राप्त होते हैं, जीव के द्वारा किए गये साधनों से नहीं (कठो०१/२/२३)", इस वरणश्रुति एवं श्रीमद्-भागवत में कहे, "जब हिरण्यकशिपु अपने महात्मा-पुत्र प्रह्लाद से द्रोह करेगा तो वरदान के कारण शक्तिसंपन्न होने पर भी मैं उसका वध कर दूँगा (श्री०भी०७/४/२८)" इस भगवद्-वाक्य के अनुसार भी यही सिद्ध होता है कि भगवान् जीव के अपराधों को क्षमा करके उत्तमफल देते हैं एवं भक्त के लिए कृपालु हैं । अतः आचार्यचरण अपने अन्तःकरण से / जीव से यह कह रहे हैं कि, तुमने तो भक्ति द्वारा अपना सबकुछ भगवान् को समर्पित किया है अतः भक्त होने के नाते तुम कृतार्थ हो और, "हे उद्धव ! जो इन भगवद्-

धर्मों का पालन करते हैं एवं मेरे प्रति आत्मनिवेदन कर देते हैं, उनके लिए अब कौन सा पुरुषार्थ करना शेष रह जाता है ? (श्री०भा०११/१९/२४)'' इस वाक्य द्वारा भगवान ने यह कहा है कि, भक्ति उत्पन्न होने पर समस्त अर्थ प्राप्त हो जाते हैं अतः आचार्यचरण कह रहे हैं कि भगवान को सभी कुछ समर्पित कर दिया होने के कारण साधन और फलरूप अर्थ (अर्थात् भगवान) को तुमने प्राप्त कर लिया है। अतः सुखी रहो और मन की कलुषता का निवारण करके निवृत्त हो जाओ, यह अर्थ है। और, उपर्युक्त बातों का विचार करके प्रभु-आज्ञा का पालन करनेवाले को प्रभु आशीर्वाद ही देते हैं, उस पर अप्रसन्न नहीं होते। ॥७॥

अतः परं विद्यमानेपि दैहिके सेवासामर्थ्ये पूर्वोक्तखेदेन वा देहाध्यासेन वा कार्यान्तराभिनिवेशादिना वा दैहिकसेवायां प्रमाद्यन्तं प्रति पुनर्विचारान्तरमुपदिशन्ति । प्रौढापित्यादि ।

प्रौढापि दुहिता यद्वत्स्नेहान्न प्रेष्यते वरे ॥ ८ ॥

तथा देहे न कर्तव्यं वरस्तुष्यति नान्यथा ।

प्रौढा भर्तृसकलकार्ययोग्या तत्समर्थापि दुहिता यद्वत् यथा, स्नेहाद् इयं बाला पतिगृहे महत्कार्यं कर्तव्यं तत् कुर्वन्ती श्रान्ता क्लिष्टा च भविष्यतीति ज्ञात्वा वर भर्तृसमीपे न प्रेष्यते, तथा तद्वदेहे स्नेहात् सेवां विना स्थापनं न कर्तव्यम् । तत्र हेतुः। वरस्तुष्यति नान्यथेति । अन्यथा प्रेषणविरुद्धे प्रकारान्तरे वरो न तुष्यति; तथा शरीरेण सेवाया अकरणे भगवानपि न तुष्यति । एतस्य देहस्य भगवता स्वसेवार्थमेव दत्तत्वात्; 'भवाय नाशाय'ति पञ्चमस्कन्धीये वाक्ये तथैव प्रतिपादितत्वात् । अत एवं विचारेण पूर्वोक्तदोषान् न्यत्कृत्याज्ञप्तसेवैव कार्येत्यर्थः ।

हवे न्ने देहमां भगवद्-सेवा करवानुं सामर्थ्य होय अने उपर कहेला भेदना कारणे अथवा तो देहाध्यास के पछी भगवद्-सेवाने छोडीने बीज लौकिककार्योमां संलग्न थई जवाथी एव भगवद्सेवामां प्रमाद करे तो अने आचार्यचरण इरीथी बीज विचारोने उपदेश प्रौढापि ईत्यादि शब्दोथी करी रह्या छे.

प्रौढा नो अर्थ छे-जे पतिना समस्त कार्योने योग्य होय. अने जे पुत्री समर्थ होवा छतां पण जेवी रीते स्नेहवश थईने अना पति पासे न भोकलवामां आवे अर्थात् "मासी पुत्री पतिना धरे जईने अधिक काम करी-करी ने थडी जशे अने दुःखी थई जशे" अेवुं मानीने अना पति पासे न भोकलवामां आवे, तेवी ज रीते आ देहथी अधिक स्नेह राभीने भगवत्सेवा कर्या वगर रही जईअे, अेवुं नहीं करवुं जेईअे. अेनुं कारण आपथी वरस्तुष्यति नान्यथा ईत्यादि शब्दोथी कही रह्या छे. अन्यथा अर्थात् न्ने अने अना पतिना धरे न भोकलवामां आवे तो अन्य कोई पण प्रकारे अेनो पति संतुष्ट नहीं थशे; अे ज प्रमाणे आ शरीरथी भगवत्सेवा न करवाथी भगवान पण प्रसन्न नहीं थाय केभके आ शरीरने भगवाने पोतानी सेवा माटे आपणने आर्युं छे. आ ज वात श्रीमद्-भागवतना पंचमस्कंधमां "समस्त एव ईश्वर द्वारा अपायेला आ शरीरने धारण करे छे (श्री.भा.५/१/१३)"आ वाक्य द्वारा कहेवामां आवी छे. आथी आ जधी वातोने विचार करीने पूर्वमां कहेला आपण आ दोषोने दूर जाटकीने भगवाने जे अेमनी सेवा करवानी आज्ञा आपी छे, ते ज करवुं जेईअे अे अर्थ छे.

अब यदि देह में भगवद्-सेवा करने की सामर्थ्य हो और तब भी उपर कहे खेद के कारण अथवा तो देहाध्यास या फिर भगवद्-सेवा को छोड़ अन्य दूसरे लौकिक कार्यो में संलग्न हो जाने के द्वारा जीव भगवत्सेवा में प्रमाद करे तो उसे आचार्यचरण पुनः दूसरे विचारों का उपदेश प्रौढापि इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं ।

प्रौढा का अर्थ है - जो पति के समस्त कार्यो के योग्य हो । और समर्थ होने पर भी जो पुत्री जैसे स्नेहवश उसके पति के पास न भेजी जाय अर्थात् "मेरी बालिका पति के घर जा कर अधिक काम कर-कर के थक जायेगी और दुःखी हो जायेगी", ऐसा विचार करके उसके पति के पास न भेजी जाय, वैसे ही इस देह से अधिक स्नेह रखते हुए भगवत्सेवा किए बिना रह जाँ, ऐसा नहीं करना चाहिए । इसका कारण आपथी वरस्तुष्यति नान्यथा इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं । अन्यथा अर्थात् यदि उसे उसके पति के घर न भेजा जाय तो अन्य किसी प्रकार से उसका पति संतुष्ट नहीं होगा, उसी प्रकार इस शरीर से भगवत्सेवा न करने पर भगवान भी प्रसन्न नहीं होंगे । क्योंकि इस शरीर को भगवान ने अपनी सेवा के लिए ही हमें दिया है, यही बात श्रीमद्-भागवत के पंचमस्कंध में, "समस्त जीव ईश्वर के द्वारा दिए गये इस शरीर को धारण करते हैं (श्री०भा०५/१/१३)" इस वाक्य द्वारा कही है । अतः इन सभी बातों का विचार करके पूर्व में कहे अपने दोषों को दूर झटक कर भगवान ने जो उनकी सेवा करने की आज्ञा दी है, वही करनी चाहिए- यह अर्थ है ॥८॥

अथापराधेन प्रतिबन्धादिना वा देहस्य तदर्थतायां सन्देहे विचारान्तरमुपदिशन्ति । लोकवच्चदित्यादि ।

लोकवच्चत्स्थितिर्मे स्यात्किं स्यादिति विचारय ॥ ९ ॥

अशक्ये हरिरेवास्ति मोहं मा गाः कथञ्चन ।

लोका यथा संसारासक्ता नानास्वभावास्तत्र तत्र तेन तेन शास्त्रादिना प्रवर्तन्ते तद्वच्चेन्मे स्थितिः स्यात्; उक्तरीत्या पश्चात्तापो न स्यात् तदा किं स्यात् ? लोकतुल्यतैव स्यात् । सा तु मे न जाता, अतो मदुपरि भगवान् दयां करोतीति विचारय । तथा चैवं विचार्य देहस्य सेवार्थत्वं निश्चिनुहि; निश्चित्य चाज्ञासं कुर्वित्यर्थः ।

हवे ने कोई भगवद्-अपराधने कारणे अथवा तो कोई लौकिक-अलौकिक प्रतिबंधने कारणे ज्वने एवो संदेह थाय के ते भगवत्सेवा नहीं करी शके तो आचार्य्यरएण बीन विचार द्वारा लोकवच्येत् ष्ट्यादि शब्दोथी उपदेश करी रखा छे ।

आपश्री आ आज्ञा करी रखा छे के एवो संदेह नहीं रापो केभके ने प्रभु मने नहीं अपनावत तो लोको ने संसारासक्त छे तेमज विविध प्रकारना स्वभाववाणा छे अने भ्रांत-शास्त्र द्वारा संसारमां न प्रवृत्त रहे छे, तेओमां मारी स्थिति थई नत; ने मने मनमां एवो पश्चात्ताप न थयो होत तो शुं थात? हुं पण संसारासक्त लोकोनी नेवो न थई नत. परंतु एवुं न थयुं केभके भगवान् मारा पर दया करी रखा छे, एम विचार करो. एथी एवो विचार करीने आ देहने भगवत्सेवा माटे निश्चित करी लो तेमज निश्चित करीने ने भगवद्-आज्ञा थई छे एना अनुसार करो, आ अर्थ छे.

अब यदि किसी भगवद्-अपराध के कारण अथवा तो किसी लौकिक-अलौकिक प्रतिबंध के कारण जीव को ऐसा संदेह हो कि वह भगवत्सेवा नहीं कर सकेगा, तो आचार्य्यचरण अन्य दूसरे विचार द्वारा लोकवच्चेत् इत्यादि शब्दों से उपदेश कर रहे हैं ।

आपश्री यह आज्ञा कर रहे हैं कि, ऐसा संदेह मत रखो क्योंकि यदि प्रभु मुझे नहीं अपनाते तो, लोग जो संसारासक्त हैं एवं नाना प्रकार के स्वभाव वाले हैं और भ्रांत-शास्त्रों द्वारा संसार में ही प्रवृत्त होते हैं, उनमें मेरी स्थिति हो जाती; यदि मुझे मन में ऐसा पश्चात्ताप न होता तो क्या होता ? मैं भी संसारासक्त लोगों के जैसा ही हो जाता । परंतु ऐसा नहीं हुआ सो भगवान् मुझ पर दया कर रहे हैं, यह विचार करो । अतः ऐसा विचार करके इस देह को भगवत्सेवा के लिए निश्चित कर लो एवं निश्चित करके जो भगवद्-आज्ञा हुई है उसके अनुसार करो, यह अर्थ है ।

एवमुद्युक्ततया सेवाकरणेपि पुनः प्रतिबन्धसम्भवश्चेत्तत्राप्युपायमाहुः । अशक्य इत्यादि । पूर्वोक्तं कर्तुमशक्यं चेद् भातं तदा हरिः स्मर्तृसर्वाघहर्ता भगवान्वास्ति । ‘सर्वधर्मान् परित्यज्ये’तिवाक्ये स्वस्य प्रपन्नसर्वपापनिवारकत्वं वदन् रक्षकोस्तीति विचारय । कथञ्चन, केनापि पूर्वमुक्तेन कृतेनानुक्तेन भाविना सम्भावितेन वा प्रकारेण मोहं वैचित्यं ममातः परं किं भविष्यतीति मौढ्यात्मकमुद्वेगं मा गाः । एवं भगवतः शरणत्वविचारेणैव सर्वोद्वेगनिवृत्त्या भगवत्कृपाया अभिव्यक्तेरित्यर्थः ।

एवं सर्वं विचारवाक्यमुक्त्वोपसंहरन्ति । इतीत्यादि ।

हवे मानो आ प्रमाणे तत्पर थईने भगवद्-सेवामां नेडाई नईअे अने तो पण ने प्रतिबंध आवी नय तो एनो उपाय आचार्य्यरएण अशक्य ष्ट्यादि शब्दोथी अतावी रखा छे. आपश्री आज्ञा करी रखा छे के ने उपर कहेली पद्धति-अनुसार भगवत्सेवा करवी अशक्य लागती होय तो नएणी लो के स्मरण करवावाणाना अधा पापोने दूर करी देवावाणा भगवान्-हरि न छे. अने भगवद्-गीतामां “समस्त धर्मोने छोडीने मात्र मारी शरणमां आव (भ.गी.१८/६६)” आ वाक्यानुसार एमने शरणगत थयेला ज्वना तेओ समस्त पाप नष्ट करी दे छे, आ एमणे कहुं न छे एथी तेओ आपणा रक्षक छे, आ वातनो विचार करो. कथञ्चन शब्दोथी आचार्य्यरएणोनुं तात्पर्य्य अे छे के कोई पण व्यक्तिना कहुना अनुसार अथवा न कहेवा पर अर्थात् एनी देभादेपी अथवा भविष्यमां थवावाणा कोई पण प्रकारना मोहमां नहीं इसो अर्थात् “हवे मारुं शुं थरो ?” एवो भूर्धतापूर्ण उद्वेग नहीं करो. आ प्रमाणे भगवान्नी शरणगतिनी भावना करवाथी न समस्त उद्वेगनुं निवारण थईने भगवत्कृपा अभिव्यक्त थाय छे, आ अर्थ छे.

अब मानो इस प्रकार से तत्पर होकर भगवत्सेवा में जुट जाएँ और तब भी यदि प्रतिबंध आ जाएँ, तो इसका उपाय आचार्य्यचरण अशक्य इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं । आपश्री आज्ञा कर रहे हैं कि, यदि उपर कही पद्धति-अनुसार भगवत्सेवा करनी अशक्य लग रही हो ता जान लो कि, स्मरण करने वालों के समस्त पापों को दूर कर देनेवाले भगवान्-हरि ही हैं एवं भगवद्-गीता के, “समस्त धर्मों को छोड़कर मात्र मेरी शरण में आ (भ०गी०१८/६६)” इस वाक्यानुसार शरणगत हुए जीव के वे समस्त पाप नष्ट कर देते हैं, यह उन्होंने कहा ही है अतः वे हमारे रक्षक हैं इस बात का विचार करो । कथञ्चन शब्द से आचार्य्यचरणों का तात्पर्य्य यह है कि, किसी भी व्यक्ति के कहे अनुसार या फिर उसकी देखादेखी या फिर भविष्य में होने वाले किसी भी प्रकार के मोह में मत फँसो अर्थात् अब मेरा क्या होगा ? ऐसा मूर्खतापूर्ण उद्वेग मत करो । इस प्रकार भगवान् की शरणगति की भावना करने से ही समस्त उद्वेग का निवारण होकर भगवत्कृपा प्रकट होती है, यह अर्थ है ॥९॥

एवं सर्वं विचारवाक्यमुक्त्वोपसंहरन्ति । इतीत्यादि ।

इति श्रीकृष्णदासस्य वल्लभस्य हितं वचः ॥ १० ॥

चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥

चित्तं प्रति अन्तःकरणं लक्ष्मीकृत्य उद्दिश्य श्रीकृष्णदास्य हितं सुखसम्पादकं बल्लभस्य भगवतो भक्तानां च प्रियस्य वचः विचारोपदेशवाक्यम् ; इति एतावत् शरणोपदेशान्तमेव नाधिकं; यदाकर्ण्य श्रुत्वा भक्तः पूर्वोक्तः कृतापराधोपि निश्चिन्ततामद्वेगनिवारणेन चिन्ताराहित्यं व्रजेत् प्राप्नुयादित्यर्थः ।

आ रीते आचार्यचरणं समस्त विचार-वाक्योने कहीने हवे छिति छित्यादि शब्दोथी आ ग्रंथनो उपसंहार (समाप्ति) करी रह्या छे.

चित्तं प्रति नो अर्थ छे-अंतःकरणे लक्ष्मीं राभीने अथवा अेना उद्देश्यथी; श्रीकृष्णदासस्य हित अर्थात् श्रीकृष्णदास (श्रीमहाप्रभु) ना सुभ आपवावाणा वचन; बल्लभस्य अर्थात् भगवान् के भक्तना प्रिय आचार्यचरणोना वचः अर्थात् विचारोना उपदेशरूप वाक्योने छिति अर्थात् शरणमार्गनी अंतर्गत अेटला न उपदेशरूप वाक्यो छे, वधारे नथी. अेवा वाक्योने यदाकर्ण्य अर्थात् अेने सांभणीने भक्तः अर्थात् पूर्वमां कहेला अेवा भक्त अेनाथी भगवद्-आज्ञानुं पालन न करवानो अपराध थर्थ यूक्यो होय ते निश्चिन्ततां अर्थात् उद्वेगनुं निवारण थर्थ नवाना कारणे चिन्तामुक्त एवनेने व्रजेत् अर्थात् प्राप्त करी ले छे, आ अर्थ छे.

इस प्रकार आचार्यचरण समस्त विचार-वाक्यों को कह कर अब इति इत्यादि शब्दों से इस ग्रंथ का उपसंहार (समाप्ति) कर रहे हैं ।

चित्तं प्रति का अर्थ है अन्तःकरण को लक्षित करके या उसके उद्देश्य से ; श्रीकृष्णदासस्य हित अर्थात् श्रीकृष्णदास (श्रीमहाप्रभुजी) के सुख देने वाले वचन बल्लभस्य अर्थात् भगवान् या भक्त के प्रिय आचार्यचरणों के वचः अर्थात् विचारों के उपदेशरूप वाक्यों को इति अर्थात् शरणमार्ग के अंतर्गत इतने ही उपदेशरूप वाक्य हैं, अधिक नहीं, ऐसे वाक्यों को यदाकर्ण्य अर्थात् जिन्हें सुन कर भक्तः अर्थात् पूर्व में कहा गया ऐसा भक्त जिससे भगवद्-आज्ञा न पालन करने का अपराध हो चुका है, वह निश्चिन्तता अर्थात् उद्वेग का निवारण हो जाने के कारण चिन्तामुक्त जीवन को व्रजेत् अर्थात् प्राप्त कर लेता है, यह अर्थ है ॥१०॥

अत्रैतत् सिद्धम् ।

(१) भगवान् समाभ्यधिकराहित्यात् स्वतन्त्रः ।

(२) मार्गप्रवर्तका भक्ताः स्वरूपतो दोषरहिता भगवतोक्तभक्तवश्यतायामपि भगवदधीना एव भगवदभिन्नाश्चातः स्वस्य तन्मार्गीयत्वेपि मार्गप्रवर्तकभक्तवत् स्वस्य भगवदाज्ञाभङ्गोऽनभिप्रेतकरणं च न युक्तम् ।

(३) स्वस्य स्वभावतो दोषसत्त्वेपि समर्पणादुत्कृष्यतीति कृपाबाहुल्येपि स्वोत्कर्षो न भावनीयः ।

(४) भगवतः सत्यसङ्कल्पत्वात् किं चिकीर्षतीति तदिच्छायाश्च ज्ञातुमशक्यत्वात् सर्वदा तदाज्ञैव कर्तव्या । तदकरणे 'आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राणामि'तिवत् स्वामिद्रोहात्मको महान् अपराधः स्यात् ।

(५) किञ्च, अहं सेवक इति मदनरूपं यत् तत् स्वामी एव करिष्यतीति विचारः सेवकस्योचित इत्यतोप्याज्ञैव कार्या । नाप्याचार्यकृतिदृष्टान्तेन स्वयं प्रौढिः कर्तव्या । तैरपि स्वप्रौढ्या तथाकृतौ पश्चात्तापत्वस्यैवोक्तत्वात् पश्चात्तापस्यापि सेवकत्वप्रयुक्तताया एवोक्तत्वाच्च ।

हवे आटला विश्लेषणो पछी निम्नलिखित वातो सिद्ध थर्थ के

१) भगवाननी न कोर्थ समानता करी शके छे अने न तो कोर्थ अेमनाथी अधिक छे. अेथी तेओ कंर्थ पण करवामां स्वतंत्र छे.

(ठीक आवा प्रकारनुं वाक्य भगवद्-गीतामां पण आव्युं छे, नुओ भ.गी.११/४३)

२) आ पुष्टिमार्गना प्रवर्तक व्रजभक्त स्वरूपतः दोषरहित छे. भगवाने भले अेम कह्युं होय के "हुं मारा भक्तोना वशमां छुं" तो पण भक्त तो भगवानने आधीन न छे अने अेमनाथी अलग पण नथी अेथी आपणे भले व्रजभक्तोना मार्गना के पुष्टिमार्गना अनुयायी होर्थअे तो पण अे व्रजभक्तोनी देभादेभी करीने आपणे पण भगवद्-आज्ञा भंग करी दर्थअे अथवा अेवुं कांर्थ करीअे अे भगवानने प्रिय न होय तो अे वात युक्त नथी.

३) धारो के आपणे दोषयुक्त पण केम न होर्थअे परंतु भगवानने सर्वसमर्पण करी देवाथी उत्कृष्ट अनी नर्थअे छीअे. भगवाननी अेवी असीम कृपा होवा छतां पण आपणे पोतानो उत्कर्ष नहीं मानवो नर्थअे परंतु भगवाननो न उत्कर्ष मानवो नर्थअे.

४) भगवान तो सत्यसंकल्पी छे अेथी अेमणे आपणा विषयमां शुं विचार्युं छे अने अेमनी छंछा शुं छे अे नणवुं अशक्य छे. अेथी उचित अे न छे के सर्वदा अेमनी आज्ञानुसार न कार्य करवा नर्थअे. अे अेवुं नहीं करीअे तो "राजनी आज्ञा-भंग करवी ते मोटो अपराध छे" आ लौकिक उक्ति अनुसार आपणा स्वामीनो द्रोह करवा अेवो महान अपराध क्यो अेवुं थर्थ नरो.

प) आ पण विचार करवो जेईये के हुं तो सेवक छुं अने जेभां पण भाहुं हित छे अे मारा स्वामी करशे न. अेक सेवक भाटे तो आ न उचित छे. अेथी अेमनी आज्ञानुसार न करवुं जेईये. आचार्यचरणोअे जे भगवद्-आज्ञा नहीं मानी, तो अेवी रीते भावावेशमां आवीने अेमनी देखादेखी आपणे नहीं करवी जेईये. आचार्यचरणोअे पण भावावेशमां आवीने जे क्युं, अेनो अेमणे पण पश्चात्ताप न क्यो केभके पश्चात्ताप पण अेमने सेवक होवाना नाते न थयो.

अब इतने विश्लेषणों के पश्चात् निम्नानुसार सिद्ध हुआ कि

(१) भगवान की न कोई समानता कर सकता है और न ही कोई उनसे अधिक है अतः वह कुछ भी करने में स्वतंत्र हैं। (ठीक इसी प्रकार का वाक्य भगवद्-गीता में भी आया है, देखें भ०गी० ११/४३)।

(२) इस पुष्टिमार्ग के प्रवर्तक ब्रजभक्त स्वरूपतः दोषरहित हैं। भगवान ने भले ही यह कहा हो कि “मैं अपने भक्तों के वश में हूँ” तथापि वे तो भगवान के अधीन ही हैं और उनसे अलग भी नहीं हैं। अतः हम भले ही ब्रजभक्तों के मार्ग अर्थात् पुष्टिमार्ग के अनुयायी हों, तथापि उन ब्रजभक्तों की देखादेखी हम भी भगवद्-आज्ञा भंग कर दें या फिर कुछ ऐसा करें जो भगवान को अभिप्रेत न हो, तो यह बात युक्त नहीं है।

(३) चाहे हम दोषयुक्त भी क्यों न हों परंतु भगवान को सर्वसमर्पण कर देने से उत्कृष्ट बन जाते हैं। भगवान की ऐसी महती कृपा होने पर भी हमें खुद का उत्कर्ष नहीं मानना चाहिए अपितु भगवान का ही उत्कर्ष मानना चाहिए।

(४) भगवान तो सत्यसंकल्पी हैं अतः उन्होंने हमारे विषय में क्या चुना है और उनकी इच्छा क्या है, यह जानना अशक्य है अतः उचित यही है कि सर्वदा उनकी आज्ञानुसार ही कार्य करना चाहिए। यदि ऐसा नहीं करेंगे तो “राजा की आज्ञा भंग करनी अपराध है।” इस उक्ति-अनुसार अपने स्वामी से द्रोह करने जैसा महान अपराध करना हो जायेगा।

(५) यह भी विचार करना चाहिए कि-मैं तो सेवक हूँ और जिसमें भी मेरा भला है, वह मेरे स्वामी करेंगे ही। एक सेवक के लिए तो यही उचित है अतः उनकी आज्ञानुसार ही करना चाहिए। आचार्यचरणों ने जो भगवद्-आज्ञा नहीं मानी, वैसे उनकी देखादेखी हमें भावावेश में आकर ऐसा कुछ नहीं करना चाहिए। आचार्यचरणों ने भी भावावेश में आकर जो किया, उसका उन्होंने भी पश्चात्ताप ही किया क्योंकि पश्चात्ताप भी उन्हें सेवक होने के नाते ही हुआ।

(६) किञ्च; भगवान् न लौकिकप्रभुवद् अपराधेन कुपितः परित्यजति । भगवद्धर्मरूपस्याङ्गीकारस्यापि नित्यत्वात् । स्वस्य चाङ्गीकृतौ समर्पणादिनानुमितायां भगवदुक्ततद्धर्माचरणे उपक्रमदशायामपि फलतः साधनतश्च वैगुण्याभावस्योद्धवं प्रति स्वयमेवोक्तत्वात् कृतार्थतैव भवतीति भावनीयम् । न तु सन्देगध्वयम्, ‘अज्ञश्चाश्रद्धानश्चे’ति वाक्येन भगवता दोषस्यैवोक्तत्वात् ।

(७) किञ्च; देहोपि प्रौढदुहित्रप्रेषणन्यायेन देहार्थं स्वार्थं न संरक्ष्यः । किन्तु, येन केनचिदुपायेन भगवति एव विनियोक्तव्यः । भगवतास्य देहस्य स्वसेवार्थमेव दत्तत्वात् । तदकरणे लोकतौल्यमेव स्यात् । यदि पुनस्तस्य तत्र विनियोजने प्रतिबन्धसम्भवस्तदा भगवानेव शरणत्वेन भावनीयः । एतदतिरिक्तस्योपायान्तरस्याभावात् । प्रतिबन्धो हि भगवन्मायया, तस्यास्तत्राधिकृतत्वात् । तत्तरणोपायश्च प्रपत्तिरेव नान्य इति भगवतैव गीतायामाज्ञापनादिति ।

इति श्रीमद्ब्रह्मभाचार्यचरणैकतानपीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमकृतौ

अन्तःकरणप्रबोधविवरणं सम्पूर्णम् ।

६) अेम पण ज्ञाणो के भगवान कोई लौकिक-स्वामीनी जेम नहीं के जे सेवक अपराध करे अने क्रोधित थईने तेओ अेनो त्याग करी देकेभके अंगीकार करवो भगवद्-धर्म छे, अने ते नित्य छे. अने आपणो अंगीकार थवाथी आपणुं अंधुं कांई भगवानने समर्पण करवाथी तेमन भगवान द्वारा कहेवाथेला धर्मोनुं आचरण करवाथी लक्ष्मिनी आरंभदशामां पण इलउपथी अथवा साधनउपथी जवनुं अहित नहीं थशे. आ वात स्वयं भगवाने उद्धवजने कही छे अेटले आपणी कृतार्थता तो थवानी न छे, आ प्रकारनी भावना करवी जेईये. अेमा संदेह नहीं करवो जेईये, केभके “भूर्भ, अश्रद्धावान तेमन संशय करवावाणाओनो विनाश थई नथ छे (भ.गी.४/४०)” आ वाक्यमां भगवाने संदेह करवानुं दोषउप न अताव्युं छे.

श्रीपुरुषोत्तमानां विवरणम्

- ७) आचार्यचरणों द्वारा अपायेला प्रौढा-पुत्रीनां उदाहरणने ध्यानमां राखीने आ देहनी पण आपणा पोताना स्वार्थ माटे रक्षा नहीं करवी न्हेअ परंतु कोर पण उपाय द्वारा भगवद्-सेवां न्हेअेनो उपयोग करवो न्हेअे-केअेके भगवाने आपणने आ शरीर अेमनी सेवा माटे न्हेअे आभ्युं अे. न्हेअेअुं नहीं करीअे तो आपणुं अुवन सर्वथा लौकिक न्हेअेअनी न्हेअे. न्हेअे आपणुं आपणा शरीरनो विनियोग भगवाननी सेवां करीअे अने त्पारे पण न्हेअे कोर प्रतिबंध आवी न्हेअे तो पण भगवाननी न्हेअे शरणागतिनी भावना करवी न्हेअेअे केअेके अेना सिवाय अीने कोर उपाय अे न्हेअे. प्रतिबंध तो भगवाननी माया ने कारण उत्पन्न थाय अे अने माया भगवानने अधीन अे. भगवाननी मायाने तरवानो उपाय केवल अेमनी शरणागति करवी अेअे अे, अन्य कोर उपाय न्हेअे. आ स्वयं भगवाने न्हेअे गीतां आज्ञा करी अे. (अुअो अ.गी.७/१४).

आ श्रीमद्ब्रह्मसंहिताआचार्यचरणोंं अेकनिष्ठ पीताम्बरात्मज श्रीपुरुषोत्तम द्वारा करवां आवेलुं अंतःकरणप्रबोधग्रंथनुं विवरण समाप्त थयुं.

- (६) यह भी जानिए कि, भगवान कोई लौकिक-स्वामी की तरह नहीं हैं जो सेवक अपराध करे और क्रोधित होकर वे उसका त्याग कर दें क्योंकि अंगीकार करना भगवद्-धर्म है और वह नित्य है। और हमारा अंगीकार होने पर और अपना सब कुछ भगवान को समर्पण करने एवं भगवान द्वारा कहे धर्मों का आचरण करने पर भक्ति की आरंभदशा में भी फलरूपसे एवं साधनरूपसे भगवान फलदान करेंगे उनमें विगुणता नहीं है और जीव का अहित नहीं होगा - यह बात स्वयं भगवान ने उद्धवजी के प्रति कही है अतः हमारी कृतार्थता तो होनी ही है - इस प्रकार की भावना करनी चाहिए। इसमें संदेह नहीं करना चाहिए क्योंकि, "मूर्ख, अश्रद्धावान एवं संशय करने वाले का विनाश हो जाता है (भ०गी०४/४०)" इस वाक्य में भगवान ने संदेह करना दोषरूप ही बताया है।
- (७) आचार्यचरणों द्वारा दिए गये प्रौढा-पुत्री के उदाहरण को ध्यान में रखते हुए इस देह की भी अपने स्वार्थ के लिए रक्षा नहीं करनी चाहिए अपितु जिस-किसी भी उपाय के द्वारा भगवद्-सेवा में ही इसका उपयोग करना चाहिए क्योंकि भगवान ने हमें यह शरीर अपनी सेवा के लिए ही दिया है। यदि ऐसा नहीं करेंगे तो हमारा जीवन सर्वथा लौकिक ही हो जायेगा। यदि हम अपने शरीर का विनियोग भगवान में करें और तब भी यदि कोई प्रतिबंध आ जाय तो तब भी भगवान की ही शरणागति की भावना करनी चाहिए क्योंकि इसके अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय है ही नहीं। प्रतिबंध तो भगवान की माया के कारण उत्पन्न होता है और माया भगवान के अधीन है। भगवान की माया से तरने का उपाय केवल उनकी शरणागति करनी ही है अन्य कोई उपाय नहीं है, यह स्वयं भगवान ने ही गीता में आज्ञा की है। (देखें भ० गी० ७/१४)

यह श्रीमद्ब्रह्मसंहिताआचार्यचरणों में एकनिष्ठ पीताम्बरात्मज - श्रीपुरुषोत्तम द्वारा किया गया अन्तःकरणप्रबोध-ग्रंथ का विवरण समाप्त हुआ।

